ISSN 2229-6328

भाग - चतुस्त्रिंश, प्रथम एवं द्वितीय खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका

शतपथ ब्राह्मण में विविध विद्याएँ

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प० पू० स्व० स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक-शोधपत्रिका

भाग: चतुस्त्रिंश, प्रथम एवं द्वितीय खण्ड (वि०सं० २०७६)

शतपथ ब्राह्मण में विविध विद्याएँ

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

जनवरी २०१९–जून २०१९   मूल्य २००.००

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व०माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ०प्र० ने वहन किया।

- स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामीसमर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,
मेरठ- २५०५०१ (उ०प्र०)
दूरभाष : ८००६७०२५५१
अणुवाक्:
pavamani86@gmail.com

- **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८

UGC पत्रिका सं०-४०९५२
भागः चतुस्त्रिंश, प्रथम एवं द्वितीय खण्ड
जनवरी २०१९-जून २०१९

- प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

- मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ०प्र०)

- प्रेरणास्रोत :

प०पू० स्व० श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

- प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

- सम्पादक

प्रो० सोमदेव शतांशु
०९८३७६४७४२७

डॉ० वाचस्पति मिश्र
०९३१९००२४०२

- **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२० गते
- **सृष्टि आदितः** १,९६,५८,८५१२० गते
- **युगाब्द** ५१२१
- **दयानन्दाब्द** १९५

सम्पादकीयम्

पावमानी ने ब्राह्मणग्रन्थों के अनन्त ज्ञान-मार्गों में विचरण करने का प्रयास प्रारम्भ किया है। एतत्पूर्व पावमानी के शतपथ एवं ऐतरेय ब्राह्मण के एक-एक विशेषांक के माध्यम से ब्राह्मण ग्रन्थों की बहुविधज्ञानमयता की ओर पाठकों के ध्यानाकर्षण का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत अंक भी शतपथ ब्राह्मण के रहस्योद्घाटन के लिए समर्पित है। ब्रह्म (वेद) के व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाते हैं। ब्रह्म के दो रूप हैं- शब्दराश्यात्मक वेदरूप तथा परब्रह्मरूप- (**द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्** (महाभारत १२।१२४।६०)। इन दोनों केरहस्यों का वर्णन करने से शतपथ आदि भी ब्राह्मण कहलाते हैं। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म के मूर्त्त एवं अमूर्त्त दो रूप प्रतिपदित हैं- **द्वे वै ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च** (१।२)। इस मूर्त को ही व्यक्त तथा अमूर्त को अव्यक्त-अपरिमित, अनिर्वचनीय आदि कहा गया है। इस प्रकार मूर्त्त व्यक्त ब्रह्माण्ड एवं अमूर्त्त अव्यक्त परमात्मसम्बन्धी विविध विद्याओं के प्रतिपादक होने से शतपथ आदि का ब्राह्मण नाम निश्चित ही अन्वर्थनामा है। उक्त प्रकारेण सभी ब्राह्मणग्रन्थ वेदमन्त्रों में वर्णित ब्रह्माण्ड पिण्ड एवं परमात्मतत्त्व के विविध रहस्यों को व्याख्यायित करते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों में शतपथब्राह्मण का अन्यतम स्थान है। सौ अध्याय होने से इसका नाम शतपथ है, ऐसी विद्वत्समाज में मान्यता है। स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती एवं उनकी शिष्य परम्परा "**बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति**" (निरुक्त ७।२४) इस यास्कीय मत का अनुसरण करते हुए शतपथ के शत शब्द का बहुत (**शतमिति बहुनामसुपठितम्।** निघण्टु ३।१) अर्थ मानते हुए शतपथ ब्राह्मण का अर्थ- अनेक, बहुसंख्य, ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक ब्राह्मण ग्रन्थ मानती है। वस्तुत: शतपथब्राह्मण यज्ञीय कर्मकाण्डों के प्रतीकों के माध्यम से वेदोक्त आध्यात्मिक, आधियाज्ञिक, आधिदैविक, आधिभौतिक,

राष्ट्रीय, सामाजिक आदि बहुविध अर्थों को प्रतिपादित कर **अनन्ता वै वेदाः** को प्रमाणित करता है। उदाहरण के लिए वेद के प्रथम शब्द 'अग्नि' के सन्दर्भ में शतपथ को देखें। अग्नि के आध्यात्मिक पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहा है- **अग्निरेव ब्रह्म** (शतपथ-१०।४।१।५) **अमृतो ह्यग्निः (शतपथ-१।९।२।२०); इसके आधिदैविक स्वरूप को प्रकट करते हुए वर्णित है- अग्निरेव अर्कः (शतपथ- ७।३।१।६७) अग्निर्वै होता (शत. १।५।१।८);** अधियज्ञ में अग्नि के विविधरूप कोआरेखित किया गया है- **अग्निर्वै ब्रह्मयज्ञः (शत. ५।२।३।६) अग्निर्वै यज्ञः(शत. ३।४।३।१९) यजमानोऽग्निः (शत. ६।३।३।५) अग्निर्वै सर्वादेवता (शत. १।६।२।८);** अग्नि के अधिराष्ट्रस्वरूप को इंगित करते हुए कहा है- **अग्निर्वै ब्रह्म क्षत्रं च (शत. १।८।२।१३); अधिविद्या विषय को व्याख्यात करते हुए बताया है- एष वै देवाननुविद्वान् यदग्निः (शत. १।५।१।६) इत्यादि। इस प्रकार उक्त उद्धरणों से अग्नि के बहु-आयामीय स्वरूप को अभिव्यक्त कर वेद के अनन्त ज्ञानपथ को शतपथ ब्राह्मण व्याख्यायित कर रहा है।**

शतपथ ब्राह्मण का अपर महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है प्रतीकवाद। शतपथब्राह्मण में प्रतीक को**प्रतीकं मुखम्**कहकर शरीर में मुख जैसा महत्त्वपूर्ण माना गया है। प्रतीक का सामान्यार्थ है जिस चिह्न से किसी अन्य भाव या अर्थ का बोध हो वह प्रतीक है। **येन प्रत्येति तल्लिङ्गं प्रतीकम् (दयानन्द वैदिक कोष २९।३१) वैदिक तथा परवर्ती साहित्य में प्रतीकशैली का प्रचुर प्रयोग मिलता है। प्रतीकशैली से जहाँ विविध अर्थ अभिव्यञ्जित होते हैं वहीं अनेक दुर्बोध भावों को समझने में सहायता भी प्राप्त होती है। उदाहरणतः जैसे वैदिकसंहिताओं, ब्राह्मण एवं निरुक्तादि ग्रन्थों में वृत्रासुर आख्यान का वर्णन प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य की प्रतीकात्मकता से अनभिज्ञ लोग उन प्रसंगों का ऐतिहासिक अर्थ करते हैं किन्तु निरुक्तकार ने इस भ्रम को दूर करते हुए अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है- तस्मादाहुः नैतदस्ति देवासुरयुद्धमिदम्। उपमार्थवर्णनमिदं प्रतीकमात्रं**

नैतद्वास्तविकवृत्रासुरेन्द्रयोः (निरुक्त २।१६) अर्थात् शतपथ ब्राह्मणादि में वर्णित जो वृत्रासुर युद्ध आदि हैं वह वास्तविक नहीं केवल साम्यता की दृष्टि से प्रतीकमात्र हैं। इस संसार में दैवीभावों के आवरक जो आसुरीतत्त्व हैं- वे सब वृत्र हैं, आत्मकल्याण, लोकमंगल एवं ऊर्ध्वगति के भाव इन्द्रपद वाच्य हैं। आत्मा-इन्द्र अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर होना चाह रहा है। सांसारिक भोगेच्छा आदि वृत्रासुर पद वाच्य होंगे। अधिदेव में सूर्य प्रकाश व वृष्टि का जनक है। अवर्षणशील मेघ उसके आवरक होने से वृत्र है। राष्ट्र के धन-सम्पत्ति को जमाखोरी के माध्यम से अवरुद्ध करने वाले लोग पणि हैं। इन्द्ररूप राजा उनका संहार कर जनकल्याण के लिए उपभोग्य वस्तुओं की धारा को प्रवाहित कर लोककल्याण करता है। इस प्रकार जीवन के, राष्ट्र के, विश्व के, प्रत्येक क्षेत्र में गतिमान् इस वृत्रासुर युद्ध की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। हमारे यज्ञादि सभी कर्मकाण्डों में इस शैली से विभिन्न रहस्यों को उद्घाटित किया गया है। विवाह संस्कार के सभी कर्मकाण्डों से हम सभी भलीभाँति परिचित हैं।

पाद्य,अर्घ्य,मधुपर्क आदि स्वागत विधि से पतिकुल में पति की सेवा की विधि प्रस्तुत है। हमारे भोज्य पदार्थ घृत, दधि एवं मधु; स्निग्ध शीतल माधुर्य आदि गुण से युक्त होने चाहिएँ, यहाँ ये भाव ही व्यक्त होते हैं। इसी प्रकार सौभाग्यवृद्धि के लिए पाणिग्रहण; सूर्य, अरुन्धती, ध्रुव दर्शन; तेजस्वी, अनवरुद्ध एवं ध्रुव रहने के भाव को व्यक्त करते हैं। सप्तपदी के सात कदम तो स्पष्टतया अन्न, ऊर्जा आदि की प्राप्ति को व्याख्यायित करते हैं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण की प्रतीकात्मकता स्पष्ट है।

अस्तु ब्राह्मण ग्रन्थ इन सभी कर्मकाण्डों के आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक आदि विविध मर्मों को प्रकट कर हमें पशु से मानवता, मानव से महामानव एवं महामानव से देवत्व तक पहुँचाने के उपाय बताते हैं। जैसे शतपथब्राह्मण के प्रारम्भ में ही कहते हैं-**सत्यमुदेवाः, अनृतं मनुष्याः, एदमहमनृतात् सत्यमुपैमि** आदि। सत्य देवत्व है, अनृत मिथ्या मानवीय

दुर्बलता है, अनृत से, मृतत्व से ऋत एवं अमृतत्व को प्राप्त कराना ही ब्राह्मण ग्रन्थों का लक्ष्य है।

किन्तु मध्ययुग के भाष्यकारों ने ब्राह्मण ग्रन्थों के मर्म को न समझकर अपनी पशुता की बलि न चढ़ाकर वेचारे निरीह पशुओं की यज्ञों में बलि चढ़ाकर अमरत्व स्वर्गादि पाना चाहा। वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द एवं उनके अनुगामी वेदमर्मज्ञ स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी, पं. युधिष्ठिर मीमांसक आदि आर्य विद्वानों के प्रयास से ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित यज्ञादि का वास्तविक मर्महम लोगों को पुन: प्राप्त हो सका है। स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोधसंस्थान**शतपथ के विविध ज्ञान विज्ञान को इस अंक के माध्यम से प्रकाशित करने का यत्न कर रहा है। आशा है, इससे विश्व में दैवी साम्राज्य प्रसारित हो सकेगा ।**

इन्हीं कामनाओं के साथ...

सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

शतपथ ब्राह्मण में दीक्षा एवं दीक्षणीयेष्टि

प्रो० सोमदेव शतांशु[1]

सोमयाग के अन्तर्गत दीक्षणीयेष्टि एक प्रमुख कर्मकाण्ड है। सर्वप्रथम यजमान अपनी पत्नी तथा ऋत्विजों के साथ यज्ञमण्डप में प्रवेश करता है। अन्य यज्ञीय सामग्री भी यज्ञमण्डप पर लायी जाती है। यज्ञमण्डप में एक वेदि का निर्माण करके उसमें अरणियों के घर्षण से उत्पन्न अग्नि रखी जाती है। मण्डप के बाहर एक विशिष्ट शाला में यजमान केश नखादि का छेदन करवाकर दन्तधावन, स्नान एवं आचमन करता है। इसी प्रकार यजमान की पत्नी भी प्रतिप्रस्थाता (ऋत्विज् विशेष) के आदेश से नखच्छेदन करवाती है एवं स्नान करती है।

यजमान अध्वर्यु द्वारा प्राप्त कौशेय वस्त्र धारण करता है। अपराह्न में वह घृत दधि मिश्रित चावल अथवा इच्छानुकूल भोजन करता है, इसी प्रकार पत्नी भी भोजन करती है। तदनन्तर यजमान दर्भ की फुनंगियों से अपने शरीर पर नवनीत का लेप करता है। यह कृत्य वह चेहरे से प्रारम्भ कर तीन बार करता है। दर्भ से अपने दक्षिण नेत्र में दो बार एवं वाम नेत्र में एक बार अञ्जन लगाता है अथवा तीन बार दोनों ही आँखों में लगाता है। यही क्रिया प्रतिप्रस्थाता मन्त्रोच्चारण किये बिना ही यजमान की पत्नी के साथ करता है। तब मण्डप में यजमान पूर्व द्वार से तथा उसकी पत्नी पश्चिम द्वार से प्रवेश कर दोनों अपने अपने निर्दिष्ट आसनों पर बैठते हैं। तत्पश्चात् सप्तदश सामिधेनी का पाठ किया जाता है। तथा दर्श पूर्णमास के अनुसार

[1] **अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

दीक्षणीयेष्टि की जाती है।[२]

दीक्षणीयेष्टि विधान के फलस्वरूप यजमान सोमयाग के अनुष्ठानार्थ दीक्षित समझा जाता है।[३] समस्त दीक्षा कृत्य अपराह्न में ही किया जाता है। तारा दर्शन पर्यन्त यजमान मौन रहता है। सम्पूर्ण यज्ञ कालावधि में यजमान एवं तत्पत्नी दुग्धाहार ही करते हैं।[४]

आपस्तम्ब एवं कात्यायन श्रौतसूत्रों के अनुसार दीक्षा कार्य बारह दिन, एक मास अथवा एक वर्ष तक भी चलता रहता है।[५]

दीक्षा के पश्चात् प्रायणीयेष्टि (आरम्भवाली इष्टि) की जाती है। इसमें चावल को दूध में पकाकर अदिति को समर्पित किया जाता है तथा आज्य की चार आहुतियाँ पृथ्या स्वस्ति, अग्नि, सोम एवं सविता के लिए दी जाती हैं।

सोमयाग की दीक्षा प्रकरण में महर्षि याज्ञवल्क्य ने औद्ग्राभण होम तथा कृष्णाजिन दीक्षा का उल्लेख किया है। औद्ग्राभण की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि जो दीक्षित होता है वह इस लोक से उठकर देवलोक को चला जाता है।[६] देवलोक अर्थात् दिव्य गुणों को प्राप्त करता है तथा ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में चला जाता है। यह तथ्य दीक्षा प्रकरण में वर्णित कृष्णाजिन दीक्षा से और अधिक स्पष्ट हो जाती है। इसमें दो कृष्णाजिन विछाये जाते हैं, जो द्यौ और पृथिवी लोक के प्रतीक माने जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में कृष्णाजिन को वेदत्रयी का भी प्रतीक माना गया है।[७]

---

[२] ऐ०ब्रा० १/५/१

[३] जै०ब्रा० ५/३/२९-३१

[४] वही ४/३/८-९

[५] आप०श्रौ०सू० १०/१४/८, का०श्रौ०सू० ७/७/१२-२१

[६] उद्गृभ्णीते वा एषोऽस्माद् देवलोकमभि यो दीक्षते....। मा०श०ब्रा० ३/२/४/१

[७] अस्य यानि शुक्लानि कृष्णानि च लोमानि तान्यृचां साम्नां च रूपम्। यानि शुक्लानि तानि साम्नां यानि कृष्णानि तान्यृचां यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्नां रूपं यानि

इससे यह स्पष्ट होता है कि कृष्णाजिन पर दीक्षा लेने का अभिप्राय यह है कि वेदज्ञान के प्रकाश में रहकर यागानुष्ठान करना। इस प्रकार सोम यागीय दीक्षा भी विद्या या ज्ञान के महत्त्व की प्रतिपादिका है।

प्रायणीयेष्टि के पश्चात् सोमक्रम किया जाता है कुत्सगोत्रीय ब्राह्मण अथवा किसी शूद्र से सोम खरीदा जाता है। आपस्तम्ब ने किसी भी ब्राह्मण से सोमक्रय की अनुमति प्रदान की है।[८]

सोम-विक्रेता को सोम को घास आदि से रहित करके स्वच्छ करने के लिए कहा जाता है। सोम शुद्धि के अवसर पर अध्वर्यु के सहायक ऋत्विज्, यजमान तथा यजमान के पुत्र सोम को देखने तथा स्वच्छ करने के अधिकारी नहीं हैं।[९] सोम को बैल की खाल के ऊपर दक्षिण भाग पर रख दिया जाता है। सोम विक्रेता खाल के ऊपरी भाग पर बैठ जाता है। एक जलपात्र सोम के सामने रखा जाता है एवं तदनन्तर हिरण्यवती आहुति दी जाती है। यज्ञ मण्डप के पूर्वी द्वार के दक्षिण दिशा की ओर एक गाय खड़ी रहती है, जिसे सोमक्रयणी कहा जाता है। सोमक्रयणी गाय पिंगल वर्णा हो, उसकी आँखें पीतवर्णमिश्रित भूरी हों, विकलांग एवं बन्धी हुयी न हो। उसका कान अथवा पैर पकड़कर कोई खड़ा न हो। यदि आवश्यकता पडे तो हाथ से गाय की गर्दन पकड़ी जा सकती है।[१०]

शतपथ ब्राह्मण[११] में सोमक्रयण का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है- अध्वर्यु सोम का मूल्य लगाता है- **कलया ते क्रीणानीति...।** कला गाय के

शुक्लानि तान्यृचां यान्येव बभ्रूणीव हरीणिः तानि यजुषां रूपम्। सैषा त्रयीविधा यज्ञः। मा०श०ब्रा० १/१/४/२

[८] आप०श्रौ०सू० १०/२०/१२

[९] सत्याषाढ श्रौ०सू० ७/१

[१०] ऐ०ब्रा० १/३/२

[११] मा०श०ब्रा० ३/३/३/१-३

सोहलवें भाग से सोमक्रयण करता हूँ। विक्रेता कहता है- सोम का मूल्य और अधिक है। क्रेता गाय का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहता है कि गाय से दूध, मक्खन, मलाई, घृत, आमिक्षा एवं पराक्रम की प्राप्ति होती है। पुनः अध्वर्यु कहता है सोना तुम्हारा हुआ, वस्त्र, बकरी एवं गाय तुम्हारी हुई, एक बैल का जोड़ा तुम्हारा हुआ.....। इस प्रकार मोल भाव होता है। इस पर सोमविक्रेता प्रश्न करता है- पाँच बार मोल क्यों करता है? क्रेता उत्तर देता है। यज्ञ संवत्सर के तुल्य है। संवत्सर में पाँच ऋतु होते हैं। अतः सोम का पाँच बार मोल किया जाता है। पुनः सोम क्रेता कहता है कि सोम शुक्र है, इसे मैं शुक्र से खरीदता हूँ। यह हिरण्य है, इसे मैं हिरण्य से खरीदता हूँ, यह अमृत है, इसे मैं अमृत से खरीदता हूँ।

सोम क्रयण हेतु शतपथ ब्राह्मण का जो उपर्युक्त वाग्व्यवहार है, वह यजुर्वेद के अधोलिखित मन्त्र के आधार पर है-

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन।

सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषयेम्॥[१२]

उपर्युक्त प्रकार के सोमक्रयण का वर्णन आपस्तम्ब, कात्यायन एवं सत्याषाढ ने भी अपने अपने श्रौतसूत्र ग्रन्थों में किया है।[१३]

वस्तुतः उपर्युक्त सोमक्रयण का जो वर्णन है, वह एक प्रतीकात्मक या आलंकारिक वर्णन है। सोम अमृततत्त्व है। उसको क्रय या प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अपने हिरण्य अर्थात् वीर्य को दाव पर लगाता है। अर्थात् ऊर्ध्वरेता बनकर सोम को अपने में धारण करता है। यही हिरण्य द्वारा सोम का क्रय करना है अथवा ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचर्य व्रत पालन कर विद्या ज्ञान की प्राप्ति करना सोम क्रयण है। सोम अमृतरूप परमात्मतत्त्व है,

---

[१२] यजु० ४/२

[१३] आप०श्रौ०सू० १०/२५/१-६, का०श्रौ०सू० ७/८/१-२०, सत्याषाढ श्रौ०सू० ७/२

उसको ब्रह्मचर्य तप आदि के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यही इसका रहस्य है। वैदिक संस्कृति में दूध, दही, सोमादि अमृतमय पदार्थों का विक्रय निन्द्य माना गया है। अतः विद्यादिगुण से रहित व्यक्ति को नियुक्त किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण से भी यही तथ्य प्रमाणित होता है। यथा- अब सोम वाले को धमकाता है- गाय वाले अर्थात् यजमान के साथ तेरी गाय हो स्वर्ण को यजमान की ओर लाकर फेंक देता है और कहता है चमकीले सोने के टुकड़े हमारे हों। इससे यजमान वीर्य धारण करता है और सोम विक्रेता के पास केवल शरीर रह जाता है।[१४] पश्चात् सोमविक्रेता उस सोने को ले लेता है और यजमान अजा-बकरी के बदले सोमलता को लेता है।[१५]

इस सन्दर्भ में तैत्तिरीय संहिता[१६] का निम्नलिखित प्रकरण भी ध्यातव्य है। यथा-

गर्भो वा एष यद्दीक्षित उल्ववासः प्रोर्णुते। तस्मात् गर्भाः प्रावृता जायन्ते। न पुरा सोमस्य क्रयादधीष्वीत.....।

उक्त प्रकरण वीर्यरूपी सोम की ओर संकेत करता है। भौतिक सोमयाग में सोमपान के लिए जो सोमक्रय होता है, उसमें आन्तरक्रय की अनुकृति दृष्टिगोचर होती है। जिस प्रकार गर्भ उल्वावृत पैदा होता है, उससे सादृश्य दिखाने के लिए सोम को वस्त्रावृत करके खरीदा जाता है।

तत्पश्चात् अध्वर्यु यजमान के नौका द्वारा उक्त प्रकारेण क्रीत सोम को ढकने के लिए कपड़ा मंगवाता है। चार पहियों वाली गाड़ी में चटाइयों से ढका हुआ सोम रखा रहता है। सोम के अंशु या डण्ठल को चुनने के लिए अनेक नियम हैं। यथा- सोम को हाथ में लिया जाता है तो उसे वस्त्र से ढका जाता है, इत्यादि।[१७]

---

[१४] अथ सोमविक्रयिणमभिप्रकम्पयति......। मा०श०ब्रा० ३/३/३/७

[१५] स वा अनेनाजां प्रयच्छति। अनेन राजानमादत्ते। वही, ३/३/३/९

[१६] वही, ६/१/३/२

[१७] ऐ०ब्रा० १/३/२-३

यजमान सोम का अभिवादन एवं अदिति की पूजा करता है।[१८] सोम क्रयणी गाय को गोशाला में भेज दिया जाता है तथा उसके बदले में अन्य गाय सोम विक्रेता को दी जाती है। उसे स्वर्ण भी दिया जाता है। सोम विक्रेता को कडियों एवं ढेलों से मारने का अभिनय भी किया जाता है।[१९]

सोम का आतिथ्य

सोम को खरीद कर जब याग के निमित्त उसे लाया जाता है तब जिस तरह किसी गृहागत अतिथि का आतिथ्य होता है उसी प्रकार गृहागत सोम का भी आतिथ्य होता है। यजुर्वेदीय वाजसनेयी संहिता के पंचम अध्याय, शतपथब्राह्मण (३.४.१), ऐतरेय ब्राह्मण (१.१७) तथा श्रौत सूत्रग्रन्थों में सोम के आतिथ्य का वर्णन आगे संक्षेपतः प्रस्तुत है ।

यज्ञरूपी शरीर का सिर आतिथ्य है । यह क्रीत सोम यजमान के यहाँ अतिथि के रूप में आता है । जिस प्रकार कोई राजा या ब्राह्मण घर में अतिथि के रूप में आए और उसके लिये महोक्ष और महाज पकाया जाता है और भोजन आदि के द्वारा उसका आतिथ्य किया जाता है, उसी प्रकार सोम देवता के लिये भी आतिथ्य रूप में हवि दी जाती है । आतिथ्य के लिये घर से आगे जाकर अगवानी की जाती है । क्योंकि किसी पूज्य के प्रति ऐसा व्यवहार न करने पर वह स्वाभाविक रूप से क्रुद्ध हो जाता है।[२०]

सोम राजा के सत्कार के प्रसंग में जिस बैलगाडी पर सोम को लाया जा रहा हो, उसके एक बैल को जुए से मुक्त कर देने का तात्पर्य यह है कि सोम आ गया है तथा दूसरे को मुक्त करने का भाव यह है कि उसका सत्कार किया गया। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा नहीं करना चाहिए, अपितु

---

[१८] आप०श्रौ०सू० १०/२५/१

[१९] वहीं १०/२७/८

[२०] मा०श०ब्रा० ३।४।१।२

दोनों बैलों को मुक्त करके सोम के पास पहुंच कर उसको सत्कार पूर्वक ग्रहण करे।[२१] क्योंकि देवों के व्यवहार के अनुसार ही मनुष्यों का व्यवहार होता है। मनुष्य का चलन यह है कि जब आगत अतिथि बैल को खोल देता है और अन्दर आ जाता है, तभी जलादि से उसका स्वागत किया जाता है क्योंकि तभी वह आया हुआ समझा जाता है । इस प्रकार बैलों को मुक्त करके ही सोम का आदरपूर्वक ग्रहण करे। इसमें शीघ्रता करनी चाहिए, सत्कार की यही रीति है। सोम के सत्कार के लिए एक ओर से पत्नी आती है तथा दूसरी ओर से यजमान। इस प्रकार आतिथ्य का कार्य पति-पत्नी दोनों मिलकर करते हैं।

इस सोम को यजुः से ग्रहण करें, उससे नहीं ग्रहण करना चाहिए जिससे अन्य हवियाँ की जाती हैं। इसका कारण यह है कि सोमक्रय छन्दों के राज्य प्राप्ति के लिए किया जाता है। छन्द सोम के अनुचर हैं,[२२] जैसे सूत और ग्रामीण राजा के परिचारक होते हैं। ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि छन्दों के लिए ही सामग्री ग्रहण करे किन्तु जिस प्रकार राजा के लिए भोजन तैयार किया जाता है तो साथ में अनुचरादि के लिए भी भोजन तैयार किया जता है। इसी प्रकार छन्दों का भी सत्कार किया जता है।

ऐतरेय ब्राह्मण[२३] में सोम के आतिथ्य का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। सोम को इस आतिथ्य का सिर कहा गया है।[२४] शतपथ ब्राह्मण[२५] में सिर के पूर्वार्द्ध को आतिथ्य का स्थान माना गया है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि यज्ञ का आतिथ्य स्थान सिर है। इसमें नौ कपालों वाला पुरोडाश

---

[२१] मा०श०ब्रा० ३।४।१।२

[२२] छन्दांसि खलु वै सोमस्य राज्ञोऽनुचराणि। तै०सं० ६/२/१/११

[२३] १/१७

[२४] शिरो वा एतद् यज्ञस्य आतिथ्यम्। तै०सं० ६/२/१/३

[२५] ३/४/२/२६

होता है। क्योंकि सिर को नौ स्थानों में सिया गया है।[२६]

सोम का उपर्युक्त आतिथ्य वर्णन भी एक प्रतीकात्मक वर्णन है। उक्त वर्णन के परिशीलन से ज्ञात होता है कि सोमलता के माध्यम से किसी वैदिक विद्वान् का आतिथ्य किया जा रहा है। क्योंकि छन्दों को सोम का अनुचर कहा गया है तथा आतिथ्य का सिर से साम्य प्रतिपादित करना भी ऋत रूप ज्ञान के महत्त्व का आभास कराना है, अन्यथा एक भौतिक लता विशेष का उक्त प्रकार से आतिथ्य का कोई औचित्य नहीं है।

सोमासवन

सोमासवन या सोमाभिषव एक महत्त्वपूर्ण एवं रहस्यात्मक प्रक्रिया है। यज्ञादि धार्मिक कर्मकाण्डों के साथ इसका सम्बन्ध विचार की अपेक्षा रखता है। यदि यह माना जाय कि सोम रस एक महत्त्वपूर्ण एवं लाभकारी पेय था, अतः केवल इसके महत्त्व को बनाये रखने के लिए याज्ञिक कर्मकाण्डों के साथ इसे जोड़ दिया गया तो ऐसा कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है क्योंकि उन याज्ञिक कर्मकाण्डों के विवेचन से अन्य आधिदैविक एवं आध्यात्मिक अर्थों की भी प्रतीति होती है।

सोमाभिषवन का विवेचन एक स्वतन्त्र लेख की अपेक्षा रखता है। सोमयागीय दीक्षणीयेष्टि कर्म निष्पादन के लिये ज्ञान वेदत्रयी की महत्ता को प्रकट कर सोम के विभिन्न आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रहस्यों को प्रकट कराने वाली है।

---

[२६] शिरो वा एतद् यज्ञस्य यदातिथ्यं नवकपालः पुरोडाशो भवति तस्मान्नवधा शिरो विष्यूतम्। तै०सं० ६/२/१/४

शतपथब्राह्मण एवं अन्य वैदिक वाङ्मय में निरूपित दर्शपौर्णमास यज्ञ

डॉ० सोमवीर[१]

दर्शपूर्णमासेष्टि शब्द तीन शब्दों के योग से बना है- दर्श-पूर्णमास तथा इष्टि। दर्श के शाब्दिक अर्थ से अभिप्राय उस दिन से है जिस दिन चन्द्र को केवल सूर्य ही देख सकता है अन्य कोई नहीं, ऐसा तभी सम्भव है जब चन्द्रमा और सूर्य एक साथ अर्थात् न्यूनतम दूरी पर रहते हैं। मास में ऐसी तिथि एक ही होती है जिसे अमावस्या के नाम से लोक-विश्रुति प्राप्त है। पूर्णमासी वह तिथि है जिस दिन सूर्य और चन्द्र एक दूसरे से अधिकतम दूरी पर रहते हैं। इस दिन चन्द्रमा के पूर्ण होने के कारण इसे पूर्णमासी नाम से अभिहित किया जाता है। इष्टि से तात्पर्य उस यज्ञ से है जिसमें यजमान चार पुरोहितों को नियुक्त करके प्रत्यवाय[२] से बचने हेतु नित्य अथवा काम्य-प्रयोग करता है। अतः दर्शपूर्णमासेष्टि से तात्पर्य उन कृत्यों से है जो नित्य अथवा काम्य होकर क्रमशः अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन सम्पन्न किये जाते हैं। अतः प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमा को अनुष्ठित होने के कारण इस यज्ञ का नाम 'दर्शपौर्णमास' पड़ा। प्रकृति रूप में होने के कारण इसी

[१] **सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-११०००७**

[२] प्रत्यवायो हि अनिष्टप्रसङ्गः। (तैत्तिरीयोपनिषद्, सम्बन्धभाष्य, शंकराचार्यः)

यज्ञ का पहले विधान किया गया है। प्रकृति से तात्पर्य यहाँ उस याग से है, जो अनुष्ठान के समय अन्य यागों की अपेक्षा न रखता हो। दर्शपूर्णमास में अन्य किसी याग की विधि प्रयुक्त नहीं होती, परन्तु अन्य याग दर्शपौर्णमास-विधि से उपकृत होते हैं।[३] दर्श और पौर्णमास क्या है? बालकों को तथा माता-पिता को कुल मर्यादा की रक्षा के सङ्कल्प पथ-पथ में दोहराने का एक साधन है? प्रश्न होगा कि पुनः इन दोनों में भेद क्या है? इसका उत्तर यह है कि पौर्णमास का केन्द्र घर के बालक हैं और दर्श का केन्द्र घर के वृद्धजन। पौर्णमास चन्द्र का उदय पक्ष है और दर्श क्षीयमाण पक्ष। पौर्णमास यज्ञ में बालकों को नाम ले लेकर आदेश किया जाता है कि पिता ने उन्हें कुल की किसी विशेष मर्यादा के प्रवाह को अविच्छिन्न रखने के लिये उत्पन्न किया है। यदि दुर्दैव-वश पिता उस कार्य को अधूरा भी छोड़ जाये, तो पुत्रों का कर्तव्य है कि वे उसे पूरा करें। दर्शेष्टि के दिन यही कुल-मर्यादा पूरी करने का उपदेश उन्हें एक और प्रकार से दिया जाता है। उस दिन घर के वृद्धजनों की पूजा करके उन्हें कहा जाता है कि देखो कुल की मर्यादा ऐसे पूरी की जाती है, जैसे इन वृद्धजनों ने पूरी की और जिसके कारण यह आज इतने आदर के भाजन हो रहे हैं।

पौर्णमास पद्धति के केन्द्रभूत वाक्य को उद्धृत करते हैं- **'ततोऽसि तन्तुरस्यनु मा तनुह्यसंमिन् यज्ञेऽस्यां साधु कृत्यायामस्मिन्नेऽस्मिल्लोकऽ इदं मे कर्म्मेदं वीर्य्यं पुत्रोऽनुसन्तनोत्विति पुत्रस्य नाम गृह्णाति।'**[४]

हे प्रभो! तू सर्वत्र व्यापक है, इस संसार को यथास्थान बाँधकर रखने वाला तन्तु भी तू ही है, मेरे तन्तु का भी विस्तार कर। इस यज्ञ, इस शुभ कर्म, इस अन्न द्वारा, इस लोक में मेरे इस सङ्कल्प, इस वीर्य को मेरा पुत्र मेरे पीछे भी विस्तार करता रहे। यह वाक्य बोलते हुये पुत्र के स्थान पर पुत्र का

---

[३] यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः, यथा दर्शपूर्णमासादिः। तत्प्रकरणे सर्वाङ्गपाठात्। यत्र न सर्वाङ्गोपदेशः सा विकृतिः। यथा सौर्यादिः। अर्थसंग्रहः, (प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या)

[४] कात्यायनश्रौतसूत्र (तृतीयाध्याय अष्टमी कण्डिका द्वाविंश १७६ सूत्र)

नाम लेता है।

आत्मनोऽविद्यमाने तन्तवेत्वा ज्योतिषे त्वेति वा।[५]

यदि पुत्र न हो तो अपना नाम ले, अथवा 'तन्तवे त्वा ज्योतिषे त्वा' ऐसा कहे, अर्थात् मैं ऐसा करूँ, कि अपने पीछे भी इस कार्य का तन्तु न टूटने दूँ। अथवा हे प्रभो! इस शुभ कर्म का तन्तु न टूटे, इसलिए मैं तेरी शरण आता हूँ।[६]

यज्ञों का रहस्य समझने के लिए तीन बातों का ज्ञान आवश्यक है-

१. मन्त्रों का अर्थ

२. यज्ञ की प्रक्रिया

३. मन्त्रार्थ और क्रिया का परस्पर सम्बन्ध।

इन तीनों से मिलकर शतपथ ब्राह्मण बना है। अतः मन्त्रार्थ और यज्ञ प्रक्रिया के परस्पर सम्बन्ध को समझने के लिए महर्षि याज्ञवल्क्य को मन्त्रों के अर्थ भी दिखाने पड़े। शतपथ के अनुसार दर्शपूर्णमास का सम्पादन सम्पूर्ण जीवन अथवा तीस वर्षों तक या कृत्यसम्पादन-शक्ति के पूर्ण क्षीण होने तक करना चाहिए- **ताभ्यां यावज्जीवं यजेत्। त्रिंशद् वा वर्षाणि। जीर्णो वा विरमेत्।**[७]

वस्तुतः नित्य एवं काम्य भेद से दर्शपूर्णमास द्विविध होता है। प्रत्येक मास की अमावस्या एवं पूर्णिमा को यावज्जीवन या यावत्-शक्ति अनुष्ठेय होने के कारण प्रत्यवाय से बचने हेतु यह नित्य है।[८] इसके काम्य-प्रयोग की पर्याप्त चर्चा भी श्रौतसूत्रों में प्राप्त होती है। वैखानस श्रौतसूत्र में इसे समस्त कामनाओं की पूर्ति-हेतु सम्पाद्य बताया गया है- **सर्वेभ्यः कामेभ्यः**

[५] कात्यायनश्रौतसूत्र, ३.८.२३

[६] स्वामी समर्पणानन्द जी द्वारा लिखित 'दर्श और पौर्णमास' लेख से उद्धृत

[७] आपस्तम्बश्रौतसूत्र, ३.१४.११-१३

[८] यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृ. १७

दर्शपूर्णमासौ।[९] आपस्तम्ब ने पूर्वोक्त विधि से इसे नित्य बताकर भी स्वर्ग-प्राप्ति की कामना से अनुष्ठेय बताया है- **स्वर्गकामो दर्शपौर्णमासौ।**[१०]

वस्तुतः यह कर्म आहिताग्नि के लिए अनिवार्य है। इसी प्रकृतियाग द्वारा स्वर्ग-फल-प्रदायक अग्नि-होत्र कर्म भी सम्पन्न होता है। इसे यजमान, यजमान-पत्नी तथा ब्रह्मा-होता-अध्वर्यु और आग्नीध्र संज्ञक चार पुरोहित अर्थात् छह लोग सम्पन्न करते हैं। इसमें कुल छह याग होते हैं। क्योंकि अमावस्या के दिन अग्निदेवता के लिए पुरोडाश, इन्द्र-देवता के लिए दधिद्रव्य तथा पयोद्रव्य के त्यागरूप में तीन याग होते हैं। पूर्णिमा को पहला अग्निदेवता सम्बन्धी अष्टकपालवाला पुरोडाश याग, दूसरा अग्नि और सोम-देवता सम्बन्धी आज्यद्रव्यवाला उपांशु याग और तीसरा अग्नि और सोम-देवता सम्बन्धी एकादश-कपालवाला पुरोडाश याग होता है। धर्मशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार अग्न्याधान सम्पन्न कर चुकने वाला व्यक्ति आगे की प्रथम पूर्णिमा को दर्शपूर्णमास का सम्पादन कर सकता है। पूर्णमासी के एक दिन पूर्व यजमान अपनी पत्नी के साथ व्रतोपायन विधि से उपवास[११] करके संयमपूर्वक रात्रि व्यतीत करके दूसरे दिन स्नानादि कृत्य से निवृत्त होकर धौतवस्त्र पहनकर यज्ञ का सर्वाङ्ग-अनुष्ठान प्रारम्भ करता है। पूर्णमासी के दिन प्रातःकाल आह्निक अग्निहोत्र करने के पश्चात् पंच भू-संस्कारपूर्वक यजमान गार्हपत्य के पश्चिम तथा पत्नी वायव्य में दर्भों पर बैठकर अपने हाथों में कुशादि सहित जल लेकर सङ्कल्प करते हैं। प्रस्तुत यज्ञ को सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित सोपानों में विभक्त किया जा सकता है।

ब्रह्मा-वरण- अपने आसन पर उत्तराभिमुख बैठकर यजमान ब्रह्मा नामक पुरोहित को चुनता है, जो तैत्तिरीय ब्राह्मण के मन्त्र[१२] के साथ

---

[९] वैखानसश्रौतसूत्र, १४.१

[१०] आपस्तम्बश्रौतसूत्र, ३.१४.९

[११] कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श, पृ. ८७

[१२] तैत्तिरीयब्राह्मण, ३.७.६

पूर्वाभिमुख उत्कर के पास बैठता है। ब्रह्मा एक लम्बा मन्त्र-पाठ करता है।[१३] इसके पश्चात् वह उच्च स्वर से कहता है- "हे बृहस्पते! यज्ञ की रक्षा कीजिए"। इसके बाद आहवनीय के पश्चिम से वेदि को पार करके दक्षिण की ओर जाता हुआ वह अपने आसन के दक्षिण में उत्तराभिमुख खड़ा हो जाता है और अपने आसन के कुशों से एक कुश उठाकर दक्षिण-पश्चिम दिशा (निर्ऋति, दुर्भाग्य की दिशा) में फेंकता है और कहता है- "अरे दैधिषव्य (विवाहित विधवा के पुत्र) इस स्थल से उठ और मुझसे अधिक नासमझ के यहाँ विराजमान हो[१४], इसके बाद जल स्पर्श करके पूर्वाभिमुख हो वह मन्त्र के साथ बैठ जाता है और पुनः मन्त्र के साथ आहवनीय के सम्मुख हो जाता है।[१५] ब्रह्मा पुरोहित को वैदिक शास्त्रों में पारङ्गत और सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ एवं श्रोत्रिय होना चाहिए।[१६] ब्रह्मा मन्त्रोच्चारण के समय मौन रह कर सभी क्रियाओं एवं कृत्यों के अधीक्षक के रूप में अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करता है।

शाखाहरण- दर्शेष्टि एवं सोमयाग कर चुके यजमान से ही सम्बद्ध इस कृत्य में पलाश या शमी की ऐसी शाखा लायी जाती है जो हरे-भरे बहुत से पत्तो से युक्त होकर सुन्दर शिराओं वाली हो। यह शाखा वृक्ष के पूर्व, उत्तर या उत्तरपूर्व अथवा ईशान दिशा से लायी जाती है।[१७] आपस्तम्ब ने शाखाहरण-कृत्य में काम्यप्रयोगों का भी सङ्केत किया है।[१८] आहरित शाखा को सीधी और स्वच्छ करके यज्ञस्थल पर लाने के बाद इस शाखा द्वारा छः बछड़ों को उनकी माताओं से पृथक् किया जाता है तथा गायों को **देवो वः**

[१३] आपस्तम्बश्रौतसूत्र, ३.१८.४ तथा तैत्तिरीयब्राह्मण, ३.७.६

[१४] तैत्तिरीयसंहिता, २.२.४.४

[१५] आपस्तम्बश्रौतसूत्र, ३.१८.४ तथा कात्यायनश्रौतसूत्र, २.१.२४

[१६] आपस्तम्बश्रौतसूत्र, ३.१८.१

[१७] जैमिनीसूत्र, ४.२.७, आपस्तम्बश्रौतसूत्र, १.१.१०

[१८] आपस्तम्बश्रौतसूत्र, १.१.९

सविता इत्यादि प्रस्थापन मन्त्र से चरने के लिए छोड़ दिया जाता है।[१९] जब गायें चरने के लिए चल देती है तो उन्हें **आप्यायध्वम्** इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए बुलाया जाता है। यजमान के वापस आने पर शाखा को परिचित स्थल या यज्ञस्थल पर अग्नियों के पास काष्ठ-प्रकोष्ठ में रख दिया जाता है- **यजमानस्य पशून् पाहीत्यग्निष्ठेऽन्यस्यग्न्यागारे वा पुरस्तात् प्रतीचीं शाखामुपगूहति पश्चात् प्राचीं वा।**[२०]

आचार्य जैमिनि के मत में शाखाहरण प्रातः एवं सायं दोनों समयों में गोदोहन से सम्बन्धित है।[२१] इसमें यजमान आहवनीय के पश्चिम से जाकर उसके दक्षिण में हो जाता है और आचमन करता है तथा सागर का ध्यान करता हुआ अग्नि-वायु-आदित्य एवं व्रत-पति की पूजा करता है। जब तक यज्ञ-प्रक्रिया और ब्राह्मण ग्रन्थों का ज्ञान न हो, पूर्वमीमांसा पढ़ना नदी के किनारे खड़े होकर तैरना सीखने के समान है। तैरने के सब सूत्र याद हो जायेंगे परन्तु डूबने से बचना न आएगा।

इध्माहरण- बर्हि-आहरण के पश्चात् इध्माहरण-कृत्य का सम्पादन किया जाता है। इध्म का अर्थ इन्धन अर्थात् समिधा है। इससे पलाश या खदिर की इक्कीस समिधाओं की व्यवस्था की जाती है जिनमें पन्द्रह सामिधेनी मन्त्रों के उच्चारण के साथ अग्नि में डालने के लिए होती हैं तथा तीन परिधियाँ होती हैं। परिधि का तात्पर्य है लकड़ी की वह छड़ी जो वृत्ताकार हो **'अग्नेः परितो धीयन्ते तानि दारूणि परिधयः।'**[२२] ऐसी समिधाएँ पलाश, काश्मर्य खदिर, उदुम्बर आदि यज्ञिय (यज्ञ के काम में आने वाले) वृक्षों की होती है। वे गीली या सूखी हो सकती हैं, किन्तु छिलके

---

[१९] तदेव, १.२.२-५

[२०] तदेव, १.२.१०

[२१] जैमिनिसूत्र, ३.६.२८-२९

[२२] शतपथब्राह्मण १.२ का भाष्य, पृ. ८८

के साथ ही प्रयुक्त होती है- **पलाशकार्ष्मर्यखदिरोदुम्बरबिल्व-रोहीतकविकङ्कतानां ये वा यज्ञिया वृक्षाः।**[२३]

इन समिधाओं में मध्य वाली सबसे मोटी, दक्षिण वाली सबसे लम्बी तथा उत्तर वाली सबसे पतली एवं छोटी होनी चाहिए। परिधियाँ तीन बित्तों की या एक बाहु लम्बी होती है, समिधाएँ दो बित्तों की (प्रादेश, अर्थात् अँगूठे से लेकर तर्जनी तक की) होती है।[२४] दो का प्रयोग दो आधारों के लिए तथा अन्तिम अर्थात् २१वीं समिधा अनुयाज के लिए होती है। दर्भ से बनी रस्सी को पृथिवी पर बिछा दिया जाता है जिस पर **यत् कृष्णो रूपं कृत्वा** आदि[२५] मन्त्रों के साथ इध्म का गट्ठर बर्हि के गट्ठर के पास ही रख दिया जाता है। इध्म काटते समय लकड़ी का जो भाग बचा रहता है उन्हें इध्मप्रवश्चन कहा जाता है। दर्भ के एक गुच्छ से वेदि का निर्माण किया जाता है, जिसका आकार एक बछड़े के घुटने के बराबर होता है। वेद से मन्त्र के साथ वेदि का स्थल स्वच्छ किया जाता है। यजमान की स्त्री को यह वेद दे दिया जाता है। वेद बनाने से दर्भ के जो भाग बच जाते हैं उन्हें वेद-परिवासन कहा जाता है। इसके पश्चात् इध्मप्रवश्चन एवं वेद-परिवासन को एक साथ रख दिया जाता है। इसके बाद वह एक टहनी लेता है, उसकी पत्तियाँ (कुछ को छोड़कर) काट देता है और नोकदार एक काष्ठकुदाल बना लेता है, जिसे उपवेष की संज्ञा दी गयी है। उपवेष का मन्त्र पढ़ा जाता है।[२६] पूर्णमासी के यज्ञ में उपवेष का निर्माण मौन रूप से करने का विधान है। तब वह उपवेष पर तीन दर्भगुच्छ रखता है और उनका मन्त्र के साथ आह्वान करता है। शतपथब्राह्मण के अनुसार दर्भ के इस रूप को बहुत

[२३] आपस्तम्बश्रौतसूत्र, १.५.८

[२४] तदेव, १.५.९-१०, कात्यायनश्रौतसूत्र, १.२, पृ. ८९

[२५] शतपथब्राह्मण, १.२, आपस्तम्बश्रौतसूत्र, १.६.१, पृ ८९

[२६] अन्तर्वेदिशाखाया …….. शग्मो भवासि न इति। (आपस्तम्बश्रौतसूत्र, १.६.७)

पवित्र[२७] माना जाता है।

मुख्य दिन (पूर्णमास के सन्दर्भ में कृष्णपक्ष के प्रथम दिन) में यजमान सूर्योदय के पूर्व अग्निहोत्र करता है और सूर्योदय के पश्चात् पूर्णमास-इष्टि आरम्भ करता है। दर्श-इष्टि के सन्दर्भ में सूर्योदय के पूर्व ही कृत्य आरम्भ किये जाते हैं।

हविर्द्रव्य-संस्कार- दर्शपूर्णमासेष्टि में हविर्द्रव्य के रूप में यव या व्रीहि का परिग्रहण किया जाता है। उसे कूट-पछोड़कर पीस कर आटा बनाने तक का कार्य हविर्द्रव्य संस्कार-विधि के अन्तर्गत आता है। आपस्तम्ब के अनुसार स्वच्छ कृष्णाजिन को पश्चिमाभिमुख बिछाकर निर्दुष्ट हविष्क उलूखल में छोड़े तथा दाहिने हाथ से मूसल लेकर कण्डन करने के लिए अध्वर्यु पत्नी या आग्नीध्र को बुलावे। अध्वर्यु द्वारा कूटने के लिए बुलाये जाने पर आग्नीध्र हाथ में शम्या लेकर दो बार सिल पर और एक बार लोढ़े पर ठाकें। तत्पश्चात् हविर्द्रव्यों को कूट कर आग्नीध्र उसे पछोड़कर भूसी साफ करें। भूसीरहित हविर्द्रव्य को शूर्प से पात्र में उडेल कर उसका अभिमन्त्रण करे।

कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार हविर्द्रव्य-पेषण तथा गार्हपत्यखर में कपालों को जमाने का कार्य एक साथ करते हैं।[२८] कपाल मिट्टी के बने दो अंगुल ऊँचे कपालाकृति के पात्र होते हैं जिनमें पुरोडाश पकाया जाता है। कपाल गार्हपत्यखर में समन्त्रक वृत्ताकार जमाये जाते हैं। कपालोपधनकर्ता आग्नीध्र गार्हपत्यखर के पश्चिम में बैठकर धृष्टि को लेकर गार्हपत्य-खर के अग्नि को पूर्व की ओर सरकाकर गार्हपत्य का पश्चिमार्द्धस्थान कपालोपधानार्थ रिक्त कर लें। कपालोपधानस्थल पर पहले अग्नि रखकर अग्नि पर कपाल रखे तथा मध्य से प्रारम्भ करके स्थापित किये गये प्रत्येक कपाल के ऊपर अङ्गार रखा जाता है। शतपथब्राह्मण के अनुसार पूर्वकाल

---

[२७] तदेव, १.६.१०, तैत्तिरीयब्राह्मण, ३.७.४, शतपथब्राह्मण, १.३

[२८] पेषणोपधाने युगपत्। (कात्यायनश्रौतसूत्र, २.४.२४)

में देवताओं का भाग राक्षस खा जाते थे। उनको भगाने का कार्य अग्नि करते थे इसीलिए कपाल पर अग्नि रखी जाती है '**अग्निर्हि रक्षसामुपहन्ता तस्मादेवमुपदधाति।**'[२९] आपस्तम्ब ने कपालोपधान तथा अङ्गाराधान की समन्त्रक विधि प्रस्तुत की है।[३०]

वेदि-निर्माण- आहवनीय के पश्चिम वेदि का निर्माण किया जाता है। वेदि की लम्बाई याज्ञिक की लम्बाई के बराबर या उपयोग के अनुसार होती है और उसकी गोलाकार आकृति टेढ़ी-मेढ़ी होती है- **दर्भेण संमृज्यापरेणाहवनीयं यजमानमात्रीमपरिमितां वा प्राचीं वेदिं करोति।**[३१]

इसीलिए शतपथ ब्राह्मण का कथन है- **नात्र मात्राऽस्ति यावतीमेव स्वयं मनसा मन्येत तावतीं कुर्यात्**[३२]

पंच प्रयाज- वस्तुतः होतृवरण के पश्चात् पंचप्रयाजों से ही याग का प्रारम्भ होता है इन्हें निम्नवत् देखा जा सकता है- **घृतवति शब्दे जुहूपभृतावादाय दक्षिणा सकृदतिक्रान्तोऽपरेणाधारसंभेद पंच प्रयाजान्प्राचो यजति।**[३३]

अर्थात् होता जब प्रयाज-निमित्तक मन्त्रों का पाठ करे तब अध्वर्यु जुहू और उपभृत लेकर यजति स्थान पर जाये और वहाँ स्थिर खड़ा रहे। अध्वर्यु होता को याज्या पढ़ने को प्रैष करे। होता द्वारा पढ़े गये मन्त्र के अन्त में वषट्कार का उच्चारण करने पर अध्वर्यु आहवनीय में आहुति दे। **समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहा यजति** रूप में पाँच प्रयाज होते हैं[३४] इन पंच प्रयाजों के पश्चात् आज्यभाग का आनुष्ठानिक प्रयोग किया जाता है।

---

[२९] शतपथब्राह्मण, १.१.५.६

[३०] आपस्तम्बश्रौतसूत्र, १.२२.२-४

[३१] तदेव, २.१.७

[३२] शतपथब्राह्मण, १.२.३.२४

[३३] आपस्तम्बश्रौतसूत्र, २.१७.१

[३४] तैत्तिरीयसंहिता, २.६.१, प्रयाजैः क्षरन्ति पंचैते भवन्ति। (आश्वलायनश्रौतसूत्र, १.५)

प्राशित्र-प्राशन तथा इडाप्राशन संज्ञक कृत्यों के क्रम में पर्याप्त मतवैभिन्य है। आपस्तम्ब ने भी इनकी वैकल्पिक व्यवस्था का सङ्केत किया है- **इडामेके पूर्व समामनन्ति प्राशित्रमेके**[३५]

इडा शब्द देवतावाचक तथा प्राशित्र द्रव्यवाचक है।[३६] आपस्तम्ब को इडाकृत्य ही प्रथमतया अभिप्रेत प्रतीत होता है। अतः इडा-प्रक्रिया ही प्रथमतया निरूपित की जा रही है- 'इडा' एक देवता का नाम है, किन्तु गौण रूप से एक कृत्य तथा यज्ञिय सामग्रियों से भी इसका सम्बन्ध जुड़ा होता है। इडा-पात्र अश्वत्थ (पीपल) की लकड़ी से निर्मित होता है। यह पात्र चार अङ्गुल चौड़ा तथा यजमान के पैर के बराबर लम्बा होता है, इसकी पकड़न (मूल) चार अङ्गुल लम्बी होती है। इस कृत्य में इडापात्र से पुरोडाश के दक्षिण अंश का एक भाग काट लिया जाता है। इसी प्रकार अध्वर्यु क्रम से पुरोडाश के पूर्वी अर्ध-भाग के एक अंश को काट लेता है। इसी प्रकार पुरोडाश के दक्षिणी एवं पूर्वी भाग के बीच से कुछ अंश काटा जाता है। इसी क्रम से अन्त में उत्तरी भाग का अंश भी ले लिया जाता है। अध्वर्यु इस प्रकार इन अंशों पर आज्य छिड़ककर वेदि के पूर्व में रख देता है। इसके पश्चात् कई कृत्य किये जाते हैं।[३७]

दर्शयाग में अग्नि और सोम दो देवों का याग आज्य से होता है तथा अग्नि, विष्णु और इन्द्राग्नी तीन देवता प्रधान याग में होते हैं। अग्नि के लिए अष्टकपाल, विष्णु के लिए आज्य से उपांशु तथा इन्द्राग्नी के लिए द्वादशकपाल के पुरोडाश से याग विहित है।

पिण्डपितृयज्ञ- कुछ आचार्यों ने पिण्डपितृ-यज्ञ को दर्शयाग का अङ्ग मानकर इसका निरूपण किया है।[३८] किन्तु आचार्य जैमिनि के अनुसार

---

[३५] तदेव, ३.१.१

[३६] इडाशब्दो देवतावचनः तत् संबन्धाद्द्रव्ये कर्माणि च प्रयुज्यते। प्राशित्रशब्दो द्रव्यवचनः तत् सम्बन्धात् कर्मणि। (आपस्तम्बश्रौतसूत्र, ३.१.१ टिप्पणी)

[३७] कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श, पृ. ११६-१७

[३८] कात्यायनश्रौतसूत्र, ४.१

पिण्डपितृ यज्ञ एक स्वतन्त्र कृत्य है। अतः यह दर्शयाग का अङ्ग नहीं है।[३९] आपस्तम्ब ने दर्शपूर्णमास के प्रारम्भ में ही इसका निरूपण करके मानो इसे दर्शयाग के रूप में ही स्वीकार किया है- **अमावस्यायां यदहश्चन्द्रमसः न पश्यन्ति तदहः पिण्डपितृयज्ञं कुरुते। अपराह्णेऽधिवृक्षसूर्ये वा पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति।**[४०]

शतपथब्राह्मण के अनुसार जिस दिन अपराह्ण में अमावस्या मिलती हो उसी दिन अपराह्ण के समय यह कृत्य किया जाता है।[४१]

यजमान की पत्नी उसका अवहनन करके फलीकरणादि पूर्वक तैयार किये गये तण्डुलों को दक्षिणाग्नि में पकाती है।[४२] तण्डुलों के पक जाने पर दक्षिणाग्नि के आग्नेयकोण में स्फ्य से आग्नेयाभिमुखी रेखाङ्कन करके मेक्षण से हवन किया जाता है जिसका देवता पितृपीत होता है। तत्पश्चात् शेष पायस को दूसरे पात्र में रखकर पूर्ववत् पुनः हवन किया जाता है। एतदनन्तर पित्रोपस्थानपूर्वक गार्हपत्यस्थान पर जाकर मध्यम पिण्ड को भक्षण करने हेतु पत्नी को देकर यजमान एक पिण्ड का भक्षण कर लेता है।[४३] अन्त में अवशिष्ट पिण्ड को पात्र में रखकर कुशों को अग्नि में डालकर पात्रादि का प्रोक्षण करके उनके पुनः ग्रहण का विधान किया गया है। इस प्रकार अग्निहोत्री के लिए नित्यकर्म के रूप में पिण्डपितृयज्ञ का विधान करके दर्शपूर्णमासेष्टि के आनुष्ठानिक प्रयोग को समष्टि प्रदान की जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दर्शपौर्णमास एक विशाल प्रक्रिया तथा विविध रहस्यों को स्पष्ट करने वाला वाला महत्त्वपूर्ण यज्ञ है।

---

[३९] जैमिनिसूत्र, ४.४.१९-२१

[४०] आपस्तम्बश्रौतसूत्र, १.७.१-२

[४१] शतपथब्राह्मण, २.३.४.८

[४२] आपस्तम्बश्रौतसूत्र, १.७.३-१२

[४३] तदेव, १.१०.१०-१२

दर्शपौर्णमास का आधिदैविक एवं आध्यात्मिक स्वरूप

डा० जगमोहन[1]

शतपथ ब्राह्मण जैसे विषय को समझने का तो किंचित् भी सामर्थ्य नहीं है। पुनरपि पूर्व विद्वानों के द्वारा विचारित विषयों के स्वाध्याय के पश्चात् जो एक दृष्टि प्राप्त हुई है, उसी का वर्णन शोध लेख में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। दर्शपौर्णमासादि यज्ञों की पूर्वपीठिका को समझे बिना सहसैव दर्शपूर्णमास की स्थान आधिदैविक एवं आध्यात्मिक व्याख्या का वर्णन करना संभवत: असंगत होगा। अतः पूर्वपीठिका का कथन करने के पश्चात् मुख्य विषय का वर्णन किया जाएगा।

ब्राह्मण नाम सुनते ही सर्वप्रथम जिज्ञासा होती है कि ब्राह्मण ग्रंथों का विषय क्या है? ब्राह्मण वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं अथवा यज्ञ के व्याख्यान ग्रन्थ। इस प्रश्न के उत्तर में पूज्य स्वामी समर्पणानन्द जी कहते हैं-

"ब्राह्मण ग्रन्थ वेद व्याख्यान हैं परन्तु यह कथन पूर्णतया यथार्थ नहीं, परमार्थतस्तु शतपथकार वेदमन्त्रों के भिन्न-भिन्न यज्ञक्रियाओं में विनियोग की व्याख्या करते हैं। अर्थात् यह बताते हैं कि इस मन्त्र के इस क्रिया में प्रयोग करने का क्या स्वारस्य है। इसी प्रसंग में इसमें मन्त्रों की भी व्याख्या

[1] **सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, हिन्दू महाविद्यालय, दिल्ली**

हो गई है। सो इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि शतपथ का प्रतिपाद्य विषय पूर्णमास से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ है।”[२]

स्वामी समर्पणानन्द जी लिखते हैं कि यज्ञ नाटक है अर्थात् यज्ञपात्र तथा क्रियाओं का उद्देश्य पावनत्व आदि मध्यगत भावों का अभिनय करना है। जिसको पूज्य स्वामी विवेकानन्द जी महाराज अपने लेख में और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– “वस्तुतः ये राजसूयादि यज्ञ, इनके अंतर्गत आने वाली सामग्री तथा इसमें होने वाले अशेष क्रियाकलाप किसी दूसरी ही वस्तु के प्रतीक-भूत हैं। इन प्रतीकों के द्वारा सृष्टिविज्ञान, समाजविज्ञान, आध्यात्मिकविज्ञान एवं आधिदैविक विज्ञान का स्पष्टीकरण किया गया है। वैदिक नाटकों में अभिनेता का काम अग्नि, जल आदि जड़ पदार्थों से लिया गया है। ये प्रतीक कहलाते हैं और जिस सूक्ष्म भाव का वे अभिनय करते हैं, वह इन प्रतीकों का प्रत्यायनीय कहलाता है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जितने यज्ञ हैं, उनका ही नाम प्रतीक नाटक है। और इन प्रतीकों का प्रत्यायनीय कुछ विशिष्ट है। जब तक हम प्रत्येक प्रतीक का प्रत्यायनीय क्या है, यह नहीं समझ पाते तब तक लाख कोशिश करने पर भी शतपथ ब्राह्मण हमारी समझ से बाहर है। एक जन्म में ही नहीं अपितु करोड़ों जन्मों में कभी भगवत्कृपा से भगवती श्रुति के हृदय मंदिर में प्रवेश करने के अधिकारी बन सकते।”[३]

जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यदि ये यज्ञ प्रतीकात्मक हैं और इनका प्रत्यायनीय कुछ और है तो ऐसी क्या आवश्यकता थी कि प्रत्यायनीय को समझाने के लिए प्रतीक रूप यज्ञों की कल्पना की गई? इस प्रश्न का

[२] शतपथ में एक पथ, स्वामी समर्पणानन्द, स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल प्रभात आश्रम, मेरठ पृष्ठ-१५

[३] पावमानी (त्रैमासिक शोध पत्रिका) पञ्चम वर्ष, प्रथम अङ्क स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल प्रभात आश्रम, मेरठ पृष्ठ-५७

समाधान करते हुए अपने ग्रन्थ वैदिक-मीमांसा में पंडित युधिष्ठिर मीमांसक जी लिखते हैं-

"सृष्टि के आरम्भ में योगज शक्तिसम्पन्न परावरज्ञ ऋषि लोग अपनी मानसिक शक्ति से इस चराचर जगत् के परमाणु से लेकर परम महत्तत्त्व पर्यन्त समस्त पदार्थों का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर लेते थे। उनके लिए कोई भी पदार्थ अप्रत्यक्ष नहीं था। उत्तरोत्तर सत्त्व-गुण की न्यूनता एवं रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि उत्पन्न हुए। उनके वशीभूत होकर मानवीय प्रज्ञा ने सुख विशेष की इच्छा से प्राजापत्य शाश्वत नियमों का उल्लंघन करके कृत्रिम जीवन यापन करना प्रारम्भ किया। ज्यों-ज्यों आवश्यकताएं बढ़ती गईं त्यों-त्यों जीवन यापन के साधनों में भी कृत्रिमता बढ़ने लगी। इसके साथ ही मानव की मानसिक दिव्य शक्तियों का भी ह्रास होने लगा, उस ह्रास के कारण सूक्ष्म, दूरस्थ और अव्यवहित पदार्थ अज्ञेय बन गए। अतः ब्रह्माण्ड और पिण्ड (अध्यात्म=शरीर) की रचना कैसी है यह जानना जटिल समस्या बन गई। इसके कारण आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ भी दुरूह हो गया। ऐसे काल में तात्कालिक साक्षात्कृत-धर्मपरावरज्ञ ऋषियों ने ब्रह्माण्ड तथा अध्यात्म की रचना का ज्ञान कराने और तत्परक प्राचीन वेदार्थ को सुरक्षित करने कराने के लिए यज्ञरूपी नाटकों की कल्पना की।"[४]

"यज्ञ का प्रयोजन दैवत और अध्यात्म का ज्ञान कराना है। यज्ञों की कल्पना ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सूक्ष्म रचना का ज्ञान कराने के लिए ही की गई है। अर्थात् भौगोलिक मानचित्रों के समान यज्ञ साधन मात्र है साध्य नहीं।

इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार

---

[४] वैदिक सिद्धान्त मीमांसा, पं युधिष्ठिर मीमांसाक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत पृ.७६

भूमण्डल और नक्षत्र मण्डल के विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने के लिए उनके मानचित्रों की कल्पना की जाती है, प्राचीनकाल की किसी परोक्ष घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिए नाटक की कल्पना की जाती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना का ज्ञान कराने के लिए यज्ञों की कल्पना की गई है अर्थात् यज्ञों की कल्पना भी भूगोल आदि के मानचित्रों के समान सत्य वैज्ञानिक आधार पर की गई है। अतः जिस प्रकार नगर, जिला, प्रांत, देश और महादेश आदि के क्रम से छोटे-बड़े प्रदेशों के मानचित्र तैयार किए जाते हैं। उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की स्थूल, सूक्ष्म रचना का क्रमशः ज्ञान कराने के लिए अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास आदि विभिन्न छोटे-मोटे यज्ञों की कल्पना की गई है।"[५]

सृष्टिविज्ञान के प्रतिपादन के लिए इन यज्ञों की कल्पना की गई है, इसी तथ्य को प्रतिपादित करते हुए पण्डित मोतीलाल शर्मा लिखते हैं- "जिन प्रकृतिसिद्ध नियमों के द्वारा धारावाहिक रूप से यह विश्वसर्ग सञ्चालित है उन सृष्ट्यनुबन्धी विधानों की रहस्यपूर्णा विद्या यज्ञ-विज्ञान है। यहाँ की ऋषि-प्रज्ञा ने साक्षात्कार किया एवं तदाधार पर तत्-तत्-प्राकृतिक-यज्ञिय प्राणों के सम्मिश्रण से उत्पन्न तत्-तत्-भूत-भौतिक पदार्थों के माध्यम से एक नवीन यज्ञकर्म का आविष्कार किया। मानवीय स्थिर-प्रज्ञा से प्राकृतिक नित्य देव-यज्ञ के नियमों के आधार पर आविष्कृत वही भूतयज्ञ भारतीय मानव का आचारात्मक कर्मकाण्ड कहलाया।"[६]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सभी विद्वान् यज्ञ को सृष्टि विज्ञान के प्रतिपादक मानते हैं और ब्राह्मण-ग्रन्थ इसी रहस्य को बताने का प्रयास करते हैं। पं० युधिष्ठिर जी लिखते हैं-

---

[५] वहीं

[६] शतपथ-ब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञान-भाष्य, प्रथम-भाग, भूमिका,राजस्थान-वैदिक-शोध-संस्थान, जयपुर

"इस प्रकार के वैज्ञानिक आधार पर प्रकल्पित यज्ञों की समस्त क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ क्या सादृश्य है? इसका साक्षात् विस्तृत उल्लेख वर्तमान में उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता तथापि ब्राह्मण-ग्रन्थों में याज्ञिक क्रियाओं तथा तद्गत पदार्थों के निर्देश के साथ-साथ यत्र-तत्र उल्लिखित '**इत्यधिदैवतम्**' तथा '**इत्यध्यात्मम्**' आदि निर्देशों से उक्त सादृश्य का अनुमान बड़ी सरलता से किया जा सकता है।"[७]

सौभाग्यवश दर्शपौर्णमास की मुख्य क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ दर्शायी गई तुलना शतपथ ब्राह्मण ११.२.४.१ से ११.२.७.३३ में सुरक्षित है। उसके अनुशीलन से ऊपर दर्शायी गई यज्ञों की कल्पना के मूलभूत आधार का ज्ञान भली प्रकार हो जाता है। जिसका वर्णन निम्नलिखित है-

दर्शपौर्णमास यज्ञ में दर्श एवं पूर्णमास का आधिदैविक रूप में वर्णन करते हुए शतपथकार कहते हैं कि यह जो तपता है अर्थात् सूर्य यही पूर्णमा है क्योंकि यह दिन प्रतिदिन पूर्ण रहता है।[८] जो चन्द्रमा है, वह दर्श है, क्योंकि वह केवल दिखाई सा देता है।[९] यह पृथ्वी पूर्णमा है, क्योंकि यह पूर्ण है। द्यौ दर्श है, क्योंकि यह दिखता-सा ही है।[१०] रात्रि पूर्णमा है क्योंकि यह रात्रि पूर्ण ही है।[११] दिन दर्श है क्योंकि यह दिखता ही है।[१२]

---

[७] वैदिक सिद्धान्त मीमांसा, पं युधिष्ठिर मीमांसाक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत पृ.७७

[८] एष वै पूर्णमाः । य एष तपत्यहरहर्ह्येवैष पूर्णः। शतपथ ब्राह्मण ११.२.४ १

[९] अथ एष एव दर्शो यच्चन्द्रमा ददृशऽइव ह्येषः शतपथ ब्राह्मण ११.२.४.२

[१०] इयमेव पूर्णमा: पूर्णेव हीयमसावेव द्यौर्दर्शो ददृशऽइव ह्यसौ द्यौ। शतपथ ब्राह्मण ११.२.४.१

[११] रात्रिरेव पूर्णमा। पूर्णेव हीयं रात्रि:। शतपथ ब्राह्मण ११.२.४.४

[१२] अहरेव दर्शो ददृशऽइव हीदम् । शतपथ ब्राह्मण ११.२.४.४

यज्ञ की आधिदैविक रूप में संवत्सर के साथ तुलना प्रस्तुत की गई है। संवत्सर यज्ञ हैं।[१३] ऋतु ऋत्विक् हैं।[१४] मास हवियां हैं।[१५] अर्धमास हवि के पात्र हैं।[१६] दिन-रात परिवेष्टि हैं।[१७] पृथ्वी पहली सामिधेनी है। अग्नि दूसरी, वायु तीसरी, अन्तरिक्ष चौथी, द्यौ पञ्चमी, आदित्य षष्ठी, चन्द्रमा सप्तमी, मन अष्टमी, वाक् नवमी, तप दशमी, ब्रह्मा एकादशी। यह सब संसार इनको प्रदीप्त होता है या इनके द्वारा प्रदीप्त होता है इसलिए इनका नाम सामिधेनी है।[१८]

संवत्सर यजमान है, उसका ऋतुएं यज्ञ करती हैं।[१९] वसन्त आग्नीध्र है।[२०] इसलिए वसन्त में दावानल होते हैं, क्योंकि यह अग्नि का रूप है। ग्रीष्म अध्वर्यु है।[२१] ग्रीष्म तपता है। अध्वर्यु भी तप्त-सा मालूम होता है। वर्षा उद्गाता है।[२२] जब बहुत वर्षा होती है तो सामगान की-सी आवाज सुनाई देती है। शरद् ब्रह्मा है।[२३] जब धान पकते हैं तो कहते हैं कि लोग कहते हैं कि हेमन्त होता है।[२४] इसलिए हेमन्त में पशु क्षीण हो जाते हैं।

---

[१३] संवत्सरो यज्ञः। शतपथ ब्राह्मण ११.२.७.१

[१४] ऋतव ऋत्विजः। शतपथ ब्राह्मण ११.२.७.२

[१५] मासा हवींषि। शतपथ ब्राह्मण ११.२.७.३

[१६] अर्धमासा हविष्पात्राणि। शतपथ ब्राह्मण ११.२.७.४

[१७] अहोरात्रे परिवेष्टी। शतपथ ब्राह्मण ११.२.७.५

[१८] इयमेव प्रथमा सामिधेनी। अग्निर्द्वितीया वायुस्तृतीयान्तरिक्षं चतुर्थी द्यौष्पञ्चम्यादित्यः षष्ठी चन्द्रमाः सप्तमी मनोऽष्टमी वाङ्नवमी तपो दशमी ब्रह्मैकादशी -------- सर्वं समिद्धं तस्मात् सामिधेन्यो नाम। शतपथ ब्राह्मण ११.२.७.६

[१९] संवत्सरो यजमानः। शतपथ ब्राह्मण ११.२.७.३२

[२०] वसन्त आग्नीध्र:। शतपथ ब्राह्मण ११.२.७.३२

[२१] ग्रीष्मोऽध्वर्यु:। शतपथ ब्राह्मण ११.२.७.३२

[२२] वर्षा उद्गाता। शतपथ ब्राह्मण ११.२.७.३२

[२३] शरद् ब्रह्मा। शतपथ ब्राह्मण ११.२.७.३२

[२४] हेमन्तो होता। शतपथ ब्राह्मण ११.२.७.३२

आध्यात्मिक दृष्टि से दर्शपूर्णमास यज्ञ की व्याख्या करते हुए शतपथकार कहते हैं कि इस शरीर में उदान पूर्णमा है उदान द्वारा ही यह पुरुष पूर्ण होता है।[२५] प्राण दर्श है क्योंकि यह प्राण दीखता ही है।[२६] इसलिए पूर्णमास अन्नाद एवं दर्श अन्नप्रद है। मन ही पूर्णमा है, क्योंकि यह मन पूर्ण है।[२७] वाक् दर्श है क्योंकि यह दिखाई देती है।[२८] इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भों से स्पष्ट है कि दर्शपूर्णमासादि यज्ञों का आध्यात्मिक एवं आधिदैविक स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर है।

जब शतपथकार दर्शपूर्णमास की आधिदैविक एवं आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे इस सृष्टि के किन्हीं दो तत्त्वों की ओर संकेत कर रहे हो। एक वह स्थूल तत्त्व है जो हमें दिखाई पड़ता है अथवा हम किसी न किसी रूप में उसकी सत्ता को अनुभव करते हैं। परन्तु दूसरा तत्त्व है वह जो हमें उस रूप में दिखाई नहीं पड़ता है। किन्तु अनुभूयमान तत्त्व के पीछे उसी की शक्ति विद्यमान रहती है। दोनों तत्त्वों से मिलकर ही कोई भी कार्य सम्पन्न होता है। जैसे चन्द्रमा हमें दिखाई तो पड़ता है किन्तु उसके दर्शन में सूर्य की प्रकाशशक्ति ही कारण है। सूर्य की प्रकाशशक्ति का औषधियों के लिए गुणकारी एवं वृद्धिकारी अंश प्रकट करने के लिए चन्द्रमा की आवश्यकता है। जब तक सूर्य चन्द्रमा का आश्रय नहीं लेता है तब तक वह अपने उस उपयोगी अंश को औषधियों एवं वनस्पतियों तक प्रेषित नहीं कर सकता है अर्थात् दोनों का परस्पर सहयोग ही दर्शपौर्णमास है।

आध्यात्मिक दृष्टि से मन ही पूर्णमा है। वाक् दर्श है, क्योंकि वाणी हमें दिखाई तो पड़ती है। परन्तु उसके पीछे मन की शक्ति ही काम करती

---

[२५] उदान एव पूर्णमा उदानेन ह्यं पुरुषः पूर्यत इव। शतपथ ब्राह्मण ११.२.४.५

[२६] प्राण एव दर्शो ददृशऽइव ह्यं प्राणः। शतपथ ब्राह्मण ११.२.४.५

[२७] मन एव पूर्णमा:। पूर्णमिव हीदं मन:। शतपथ ब्राह्मण ११.२.४.७

[२८] वागेव दर्शो ददृशऽइव हीयम्। शतपथ ब्राह्मण ११.२.४.७

है। विचारों को अथवा भावों को प्रकट करने के लिए मन वाणी का आश्रय लेता है। मन ही वाणी को प्रेरित करता है। यदि वाणी न हो तो मन कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो वह भावों को वाणी के अभाव में सम्यक् प्रकार से स्पष्ट नहीं कर सकता है। इस प्रकार यह मन एवं वाक् का दर्शपौर्णमास है। ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शपूर्णमास यज्ञ का प्रत्यायनीय कहीं न कहीं इस सृष्टि में विद्यमान एवं कार्यरत उन शक्तियों की ओर संकेत करना है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् चलायमान है। **अग्नीषोमात्मकं जगत्** की संकल्पना की विस्तृत व्याख्या दर्शपूर्णमास है। जिसकी विभिन्न क्रियाओं के प्रतीकों के माध्यम से शक्तियों के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन किया गया है। जिनका यथार्थ ज्ञान गम्भीर शोध का विषय है। सृष्टि-विज्ञान एवं यज्ञों की प्रक्रिया का विशेषज्ञ ही प्रतीक एवं प्रत्यायनीय की संगति करने में समर्थ हो सकता है।

पश्वालम्भन (शतपथ ब्राह्मण के सन्दर्भ में)

डॉ० अभिमन्यु[१]

विराट् पुरुष परमात्मा ने लोकस्थ पुरुष के शरीर की संरचना में अपने ही विराट् शरीर-ब्रह्माण्ड की रचना का अनुकरण किया है। **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** अर्थात् मानव शरीर इस विस्तृत ब्रह्माण्ड की एक लघु प्रतिकृति है। जैसे कोई भूगोल का प्राध्यापक विश्व के मानचित्र द्वारा एक ही स्थान पर बैठकर विश्व पटल का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत कर देता है; उसी प्रकार परावरज्ञ ऋषियों ने दिव्य मानसिक शक्ति सम्पन्न होने के कारण पिण्ड और इस विस्तृत ब्रह्माण्ड का ज्ञान कराने के लिए यज्ञों की कल्पना की तथा जिस प्रकार विश्व, देश, राज्य, जिला, नगर और ग्राम आदि के यथार्थ चित्रण के लिए पृथक्-पृथक् मानचित्र तैयार किया जाता है, उसी प्रकार हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञान रखने वाले तपःपूत ऋषियों ने पिण्ड और ब्रह्माण्ड की स्थूल-सूक्ष्म संरचना का ज्ञान कराने के लिए अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य आदि विभिन्न छोटे-बड़े यज्ञों की कल्पना की। इसी कल्पना के कारण यज्ञों का अपर नाम कल्प भी है- **कल्पनात् कल्पः।** अत एव यज्ञों का व्याख्यान करने वाले सूत्रग्रन्थों को कल्पसूत्र कहते हैं। प्रारम्भ में जिन यज्ञों की कल्पना की गई थी वे अत्यन्त सरल सात्विक सादे थे,

[१] **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, कला संकाय, डी०ई०आई० (मानित वि.वि.) दयालबाग, आगरा-२८२००५**

उनमें बाह्याडम्बर का सर्वथा अभाव था। मांस, मदिरा आदि तामसिक पदार्थों का तो किञ्चिन्मात्र सम्बन्ध ही नहीं था। प्रकृत स्थल पर शतपथ ब्राह्मण के परिप्रेक्ष्य में यही विवेचनीय है कि पश्वालम्भन पद का अर्थ क्या है? अथवा इन वैदिक यज्ञों में हिंसा का कोई स्थान नहीं है या नहीं?

प्रकृति का नियम है कि जिस विषय में जनसाधारण की रुचि अधिक हो जाती है अतिचतुर या व्यवहार कुशल अथवा प्रभुत्व सम्पन्न माने जाने वाले लोग उस सामान्य जनरुचि का अनुचित लाभ उठाते हैं। यज्ञों के साथ भी यही हुआ। जब जनसाधारण की रुचि यज्ञों के प्रति बढ़ी, तब लोभादि के वशीभूत होकर याज्ञिक लोगों ने भी यज्ञों की रोचकता बढ़ाने के लिए उनमें उत्तरोत्तर बाह्याडम्बर की वृद्धि की तथा शुभ-अशुभ प्रत्येक अवसर पर करने योग्य विविध नवीन यज्ञ-यागादि की सृष्टि या कल्पना की। जिसके परिणामस्वरूप यज्ञों में क्लिष्टता, सात्त्विकता का अभाव और वैज्ञानिकता की हानि हुई और यज्ञिय कर्मकाण्डों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

यज्ञ एवं यज्ञ की परम्परा :-

यज्ञ शब्द का धात्वर्थ देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा दान है। अतः संसार के सभी श्रेष्ठ कर्म यज्ञ हैं। यह यौगिक अर्थ है किन्तु प्रकृत स्थल पर यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। यज्ञ शब्द यौगिक तथा योगरूढ़ि भेद से दो प्रकार का है। योगरूढ़ि यज्ञशब्द से उन्हीं क्रियाओं का ग्रहण होता है जिनका विधान संहिता, ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्रों में है। श्रौतसूत्रों में इस पारिभाषिक यज्ञशब्द का अर्थ- 'देवता के उद्देश्य से हवि का त्याग करना है।[२] इन यज्ञों की संख्या अधिक है तथापि वेद इन सब यज्ञों को २१ संख्या में विभाजित करते हैं।[३] अर्थात् इन २१ यज्ञों की क्रियाएँ ही समस्त यज्ञों में

---

[२] द्रव्यं देवतात्यागः, कात्यायन श्रौत सूत्र, १/२/२

[३] ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। अथर्व.

की जाती हैं। ये २१ यज्ञ निम्नलिखित हैं- सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ तथा सात सोमयज्ञ, ये मिलकर २१ यज्ञ संस्थाएँ हैं।[४]

पाक यज्ञ - प्रातःहोम, सायं होम, स्थालीपाक, बलिवैश्वदेव, पितृयज्ञ, अष्टका पशु।

हविर्यज्ञ - अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, नवसस्येष्टि, चातुर्मास्य, पशुबन्ध।

सोम यज्ञ - अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम।

इन २१ यज्ञों में पशु और पशुबन्ध ये दो नाम आये हैं। पं० युधिष्ठिर मीमांसक की स्पष्ट मान्यता है कि यद्यपि वर्तमान पौराणिक याज्ञिक इनमें पशुहिंसा ही मानते हैं, तथापि यह वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है।

पशुयाग :-

श्रौत और स्मार्त भेद से यज्ञ दो प्रकार के हैं। जिन यज्ञों का साक्षात् विधान श्रुति से हो, वे श्रौत यज्ञ कहाते हैं तथा जिनका विधान गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों से होता है स्मार्त यज्ञ कहाते हैं। गृह्यसूत्रों में प्रधानतया संस्कार तथा गृहस्थ उपयोगी कर्मों का विधान है और धर्मसूत्रों में मानव समाज के विभाग एवं विशिष्ट कर्त्तव्यों का निरूपण है।

श्रौतयज्ञों के भी तीन भेद हैं जो कि यज्ञिय द्रव्यों के भेद से हैं। जिनमें प्रथम पाकयज्ञ मानवोचित भोज्य यथा-यव-व्रीहि-तिल-गोधूम-दुग्ध-दही-घृत आदि के द्वारा होता है। द्वितीय सोमयाग जिनका द्रव्य सोम अथवा तत्स्थानीय पूतिका (तृणविशेष) होता है। तृतीय होते हैं पशुबन्ध या पशुयाग, इनका द्रव्य होता अज आदि। परन्तु इनका जो स्वरूप जनसामान्य में प्रचलित है उससे सर्वथा विपरीत है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रचलित शब्द ‘पशुबन्ध’ से ही स्पष्ट हो जाता है। जिसका अभिप्राय यज्ञ की

---

[४] सप्त सुत्याः, सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः।

क्रियाविशेष को सम्पादित करने के लिए ग्राम्य या अरण्य पशुओं का यूप में बन्धन है न कि पशुवध। और यदि इनका अभिप्रेत पशुवध ही होता तो इनकी संज्ञा पशुवध ही होती न कि पशुबन्ध।

पशु क्या है :-

'**यदपश्यत् तस्मादेते पशवः। स एतान्पञ्च पशूनपश्यत् तस्माद्दैवत पशवः।**'[५] क्योंकि उसने (प्रजापति ने) इनको देखा, इसलिए इनका नाम पशु हो गया। उसने इन पाँच पशुओं (पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अज) को देखा इसलिए उसका नाम पशु हुआ। '**यद्दैवत्यः पशु तद्दैवत्य पुरोडाशः**' इससे स्पष्ट होता है कि पशु शब्द का सम्बन्ध देवता से होता है। निरुक्त के द्वादश अध्याय में यास्काचार्य लिखते हैं- **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः-अग्निना अग्निमयजन्त देवाः। अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्।**[६] यजुर्वेद २३/१७ तथा तै०सं० ५/७/२६ में भी अग्नि रूप पशु के साथ वायु और सूर्य रूप पशुओं का और उनके यज्ञों का वर्णन है। **अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त।**

जनसामान्य में पशुयाग का जो भ्रमवश अर्थ प्रचलित है, वह है अज आदि पशुओं का वध करके उनकी बलि देना। सामान्यतया यह भ्रम शब्दों की आकृति के कारण है। शब्द की विशेष वृत्ति को न जानने वाले सामान्य जन प्रायः शब्द के रूढ़ि अर्थ को ही सत्य मान लेते हैं।

उदाहरणार्थ कहा गया है- '**अजैर्यष्टव्यम्**' इत्यादि यहाँ अज शब्द के दो अर्थ हैं- प्रथम तो छाग अर्थात् बकरा, द्वितीय 'न उत्पन्न होने वाला'। '**योगाद् रूढिर्बलीयसी**' इस न्याय से लोक में इसका बकरा अर्थ प्रचलित होकर अर्थ का अनर्थ हुआ। परन्तु यज्ञ प्रसंग में इसका अर्थ न उत्पन्न होने वाला ही है। इस विषय पर महाभारत में भी एक संवाद उपलब्ध होता है-

---

[५] शतपथ ब्राह्मण, ६/२/१/२-४

[६] निरुक्त, १२/४१

अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवाः द्विजोत्तमान्।

स च छागोप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः॥

ऋषय ऊचुः -

अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।

अजसंज्ञानि बीजानि छागं न हन्तुमर्हथ॥

नैषः धर्मः सतां देवा यत्र वै बध्यते पशुः।

अर्थात् देवों ने कहा- अज से यज्ञ करना चाहिए, ऐसा विधान है। और वह अज भी छाग अर्थात् बकरा जानना चाहिए, अन्य पशु नहीं।

ऋषियों ने कहा- बीजों से यज्ञ करना चाहिए, यही वैदिकी श्रुति है। अज बीजों की संज्ञा है। इसलिए छाग का वध नहीं करना चाहिए जहाँ पशु का वध होता है, वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं है।[७]

इसी प्रकार यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले गौ और अश्व शब्द भी क्रमशः पृथिवी और सूर्य के वाचक हैं, न कि पार्थिव प्राणियों के।

आलभन व आलम्भन में भेद :-

'लभ' धातु से सम्बद्ध आलभन और आलम्भन के भेद की व्याकरण के नियमानुसार परीक्षा करते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में दो सूत्र बनाये हैं- १. **लभेश्च**, २. **आङो यि** (७/१/६४-६५)।

१. **लभेश्च** - लभ धातु को शप् और लिट् भिन्न अजादि प्रत्यय के परे रहने पर नुम् का आगम होता है। यथा- लम्भयति, लम्भकः।

२. **आङो यि**- आङ् से उत्तर लभ् धातु को यकारादि प्रत्यय परे होने पर नुम् का आगम होता है।

३. यथा- आलम्भ्या गौः, आलम्भ्या वडवा।

लभेश्च के अनुसार लभ् धातु से अनीयर् प्रत्यय करने पर 'नुम्' होकर लम्भनीय प्रयोग होना चाहिए। परन्तु **'आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः**

---

[७] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय, ३३७

समालभनीयाः बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म।[८] पाठ में '**समालभनीयाः**' प्रयोग में नुम् का अभाव देखा जाता है। **आङो यि** सूत्र के नियमानुसार यत् प्रत्यय में '**आलम्भ्या**' प्रयोग होना चाहिए। परन्तु '**अग्निष्टोम आलभ्यः**' (काशिका, ७/१/६५) में उद्धृत प्रयोग में नुम् का अभाव उपलब्ध होता है। अतः स्पष्ट प्रतीत होता है कि '**लभ**' और '**लम्भ**' धातु मूलतः पृथक्-पृथक् हैं। काशकृत्स्न व्याकरण जो पाणिनि से प्राचीन है, वहाँ और पाणिनि व्याकरण में भी '**लभ**' धातु का अर्थ प्राप्ति है- **डुलभष् प्राप्तौ** (१/५६४) इति। तदनुसार प्रयोग भी - लभते, लभनम्। और काशिका के ७/१/६५ में उद्धृत '**अग्निष्टोम आलभ्यः**' वाक्य में '**आलभ**' का अर्थ प्राप्त करना ही है। तथा **लभि धारणे** (१/३६२) दोनों पृथक् और स्वतन्त्र धातुएं पढ़ी हैं।

लभ् धातु का प्राप्ति से अतिरिक्त एक अन्य अर्थ- स्पर्श करने में भी बहुधा प्रयोग होता है। उपनयन और विवाह प्रकरण में- **दक्षिणं समधिहृदयामालभते** (पारस्कर गृह्यसूत्र) वाक्य में '**आलभते**' का स्पष्ट अर्थ स्पर्श ही है।

आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान् (सुश्रुत कल्पस्थान अ० १/१९) में भी आलभेत का अर्थ स्पर्श ही है। लम्भ का अर्थ- **नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म** (च०चि० १९/०४) में आलम्भ का अर्थ हिंसा है। यह वहीं पर **समालभनीयाः** पद के प्रतिद्वन्द्वी भाव रूप में पढ़ा होने से भी स्पष्ट है। कुत्रचित् आलम्भ का प्रयोग अर्थ में भी देखा जाता है-

कुमारं जातं........पुरा अन्यैरालम्भात्। (आश्व० गृह्य०)

स्त्रीप्रेक्षणालम्भते मैथुनशङ्कायाम्। (गौतम धर्म २/२२)

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि आलभ और आलम्भ दोनों स्पर्श अर्थ में समानार्थक है। परन्तु '**आलभ**' कहीं पर भी हिंसा अर्थ में नहीं है। **आलम्भ्या गौः** इत्यादि प्रयोगों में आलम्भ्या का अर्थ स्पर्श हो सकता है और यदि आलम्भ्या का अर्थ हिंसा भी हो तो यह वचन उत्तरकालीन ही है। अतः

---

[८] चरक संहिता, चिकित्सास्थान, १९१४

वेद तथा ब्राह्मण जहाँ कहीं भी आङ्पूर्वक लभ् धातु का प्रयोग है, वहाँ सर्वत्र इसका प्राचीन और मूल अर्थ प्राप्ति अथवा स्पर्श ही है। परवर्ती व्याख्यानकारों ने आलभ और आलम्भ को समानार्थक समझकर **आलभते** आदि का अर्थ हिंसा किया। जो सर्वथा अप्रामाणिक है। महीधर ने **आलभते** का अर्थ **विनियुक्ति** किया।

अश्वमेध यज्ञ में पश्वालम्भन :-

'अश्वमेध' दो शब्दों से मिलकर बना है। प्रथम है- अश्व, जिसका लोकप्रचलित अर्थ है- एक पशु विशेष। दूसरा शब्द है- मेध जिसका अर्थ है- बलि दिया जाने वाला पशु। शतपथ ब्राह्मण के दशम अध्याय में उल्लिखित है- क्योंकि 'अश्वत्' अर्थात् फूला हुआ मेध्य (यज्ञ के योग्य) पवित्र हो गया, यही अश्वमेध का अश्वमेधत्व है। जो यह जानता है वह अश्वमेध को जानता है।[९]

मोनियर विलियम्स ने अपने शब्दकोश में मेध शब्द के कई अर्थ किये हैं। उनमें से एक अर्थ 'बलि दिया जाने वाला पशु' भी है।[१०] ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ अश्वमेध प्रसंग आया है तथा अन्य विवरणों द्वारा भी यह स्पष्ट है कि अश्वमेध यज्ञ में अश्व का वध करके उसके अंगों को काटकर माँस की आहुति अग्नि में दी जाती थी। यह अर्थ कितना उचित है, यह आगे विवेचित है।

परन्तु दयानन्द तथा अनेक कई विद्वान् यज्ञ के एक अन्य नाम

---

[९] तन्मेध्यमभूदिति। तदश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्। शत.ब्रा., १०/६/५/७

[१०] मेध - In the literature the world 'Medha' came to be used in the sense of juice of meat, broth, norouhing of strengthening drink narrow (strength) (of the sacrificial animal) victim on animal sacrifice affering. Oblation any sacrifice. Originally in the vedic test. It stood for mertel vigous on intelligence Monies Williams.

अध्वर की निरुक्ति के अनुसार यज्ञ में हिंसा नहीं मानते। निघण्टु पठित 'ध्वृ' धातु हिंसार्थक है। अध्वर में इसका निषेध है, अर्थात् 'नञ्' पूर्वक 'ध्वृ' धातु से 'घञ्'प्रत्यय होकर अध्वर शब्द निष्पन्न हुआ है। महान् निरुक्ताचार्य यास्क ने अध्वर का अर्थ 'हिंसा का निषेध' किया है। निरुक्त में यास्क ने अध्वर की भी निरुक्ति दी है।[११] जिसका अर्थ है- यज्ञ का नाम अध्वर है, अर्थात् 'हिंसारहित कर्म'। इस प्रकार यज्ञवाची अध्वर शब्द से स्पष्ट है कि यज्ञों में किसी प्रकार की हिंसा नहीं हो सकती। यज्ञ में पशुवध होने पर 'अध्वर' शब्द सार्थक नहीं हो सकता।

स्वामी दयानन्द के अनुसार मुख्यतः यज्ञ के पर्याय मेध शब्द को अश्वमेध, गोमेध, अजमेध, पुरुषमेध आदि शब्दों में देखकर वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा विधान का भ्रम होता है। वस्तुतः वेद में तो अश्वमेध शब्द को छोड़कर अन्य किसी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। 'मेधृ'धातु के '**मेधृ संगमे हिंसायाम् च**' इस धातुपाठ के अनुसार 'शुद्ध बुद्धि' को बढ़ाना लोगों में एकता या प्रेम को बढ़ाना और 'हिंसा' ये तीन अर्थ है। परन्तु जिस धर्म और समाज में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो वहाँ मात्र हिंसापरक अर्थ मानकर निरीह पशुओं की हत्या के विधान की कल्पना करना सर्वथा असंगत है। अश्वमेध, अजमेध तथा गोमेध को प्रचलित अर्थों में ग्रहण नहीं करना चाहिए।[१२]

चरकसंहिता के चिकित्साज्ञान में अतिसार की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है कि[१३] आदिकाल कृतयुग में निश्चय से यज्ञों में पशुओं का

---

[११] अध्वर इति यज्ञ नाम -'ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिशेधः।'

[१२] आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता, सरस्वती, स्वामी विद्यानन्द, पृ. २०७-२१२

[१३] आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालम्भनीयाः बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञ प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिश्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामभावात् गवालम्भः प्रवर्तितः ..... अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे। चरक चि. १९/४

समालभन-स्पर्श किया जाता था। आलम्भन = (हिंसक) के लिए प्रकृत नहीं किये जाते थे। तत्पश्चात् इस यज्ञ के अनन्तर (त्रेता के प्रारम्भ में) मनु के नरिश्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु और शर्याति आदि पुत्रों के यज्ञों में (वेद में) पशुओं के आलम्भन की ही अनुज्ञा है। ऐसा समझ कर पशु प्रोक्षण अर्थात् आलम्भन को प्राप्त हुए और इसके अनन्तर दीर्घकालीन यज्ञ करते हुए पृषध्र ने पशुओं के अभाव के कारण गौ का आलम्भन (हिंसन) किया, उससे पृषध्र के यज्ञ में अतिसाररोग सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ ।

उपसंहारः-

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह सुतरां स्पष्ट है कि यज्ञों में पशुहिंसा नहीं होती है। **पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्**-कि वेद में पशुओं के आलम्भन की अनुज्ञा है इस भ्रम के कारण ही यज्ञों में हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ी। इसका सबसे प्रमुख कारण मतिमान्द्यादि के कारण अज आदि शब्दों के विभिन्न अर्थों का होना तथा आलभ् और आलम्भ क्रियाओं का सांकर्य होना भी है। पशुयज्ञों में 'पशुबन्ध' संज्ञा भी इसमें प्रमाण है कि पशुओं का यूप में बन्धनमात्र होता था, उनके विविध गुणों के स्मरण एवं आगमन के लिए उनका वध नहीं होता था। अन्यथा इनकी संज्ञा 'पशुवध' होनी चाहिए। उत्तरकाल में वेदों का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण और ऋषियों के बहुधा प्रयास करने पर भी समाज में मांसाहार की प्रवृत्ति बढ़ी, जिससे यज्ञों में पशुहिंसा की वृद्धि हुई, वस्तुतः वेदों में पशुहिंसा अनुमोदित नहीं है।

शतपथ ब्राह्मण में देवों द्वारा पर्यावरण सृजन एवं संवर्धन

डॉ. नन्दिता सिंघवी, डी. लिट्[१]

दिक् देव उच्छिष्ट ब्रह्म के अनेक रूप हैं।[२] वे पर्यावरण के घटक तत्त्व हैं। पुरुष सूक्त[३] के अनुसार उसके मन से चन्द्रमा, आँख से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि, प्राण से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, सिर और पाँव से भूमि व कान से दिशाएँ हुईं और इस प्रकार अन्य लोक हुए।

देवों की उत्पत्ति और विकास का पर्यावरणीय घटकों की उत्पत्ति और विकास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। शतपथ ब्राह्मण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि देवों ने पर्यावरणीय घटकों के उद्भव, संवर्धन और संरक्षण में अनेक प्रकार से महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। सृष्टि और पर्यावरणीय घटकों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया कि पहले आप् (जल) सलिल ही थे। उन्होंने चाहा कि कैसे प्रजा उत्पन्न करें? उन्होंने श्रम और तप किया। उनके तप करने पर हिरण्मय अण्डा उत्पन्न हुआ। उस समय संवत्सर न था। यह हिरण्मय अण्डा संवत्सर तक तैरता रहा। तब

---

[१] **उपाचार्या एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर संस्कृत-विभाग, राजकीय डूँगर महाविद्यालय, बीकानेर, राज०-३३४००१**

[२] अथर्ववेद ११.७

[३] वही ९.७.७.८, ऋग्वेद १०.९०.

संवत्सर में पुरुष उत्पन्न हुआ। वह प्रजापति था, इसलिए स्त्री या गौ या घोड़ी साल भर में बच्चा देती हैं, क्योंकि प्रजापति सालभर में हुआ था। उसने इस हिरण्मय अण्डे को तोड़ा। तब कोई प्रतिष्ठा (ठहरने का स्थान) न थी। यह हिरण्मय अण्डा वर्ष भर तक तैरता रहा। साल भर पश्चात् उसने बोलने की इच्छा की। उसने कहा- भू, वह पृथिवी हो गई। उसने कहा- भुवः, यह अन्तरिक्ष हो गया। उसने कहा स्वः, वह द्युलोक हो गया। इसलिए बच्चा सालभर में बोलने की इच्छा करता है, क्योंकि प्रजापति ने सालभर में बोलने की इच्छा की थी। उस प्रजापति ने पहले एकाक्षरी या दो अक्षरी शब्द कहे थे, इसलिए बच्चा जब पहले बोलता है तो एक या दो अक्षर ही बोलता है। ये पाँच हुए- भू, भुवः स्वः। इन उत्पन्न लोकों के ऊपर प्रजापति सालभर खड़ा हुआ, इसलिए बच्चा सालभर में खड़ा होने लगता है। वह हजार वर्ष की आयु वाला बनाया गया। उसने संतान की इच्छा से अर्चना तथा श्रम किया। उसने अपने में प्रजा उत्पत्ति की शक्ति धारण की, उसने मुख से देव उत्पन्न किये। वह देव द्युलोक में प्रवेश करते समय उत्पन्न हुए। उनके उत्पन्न होने पर दिन हुआ। जो उसका नीचे का प्राण है उससे उसने असुर उत्पन्न किये। वे इस पृथिवी पर प्रवेश करने पर उत्पन्न हुए। उनके उत्पन्न होने पर प्रजापति के लिए अंधकार सा हो गया। उसने जाना कि मैंने पाप को उत्पन्न कर दिया, क्योंकि तब से मेरे लिए अंधकार सा है। तब उसने उनको पाप से बींध दिया। तब वे देवासुर संग्राम में पराजित हो गये।[४] भू, भुवः, स्वः से प्रजापति ने क्रमशः केवल पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को ही उत्पन्न नहीं किया अपितु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा आत्मा, प्रजा और पशुओं को भी उत्पन्न किया।[५] इन सभी के गूढ तत्त्व गवेषणीय हैं।

अन्यत्र प्रजापति से पर्यावरणीय घटकों की उत्पत्ति को बताते हुए

---

[४] शतपथ ब्राह्मण ११.१.६.१-९

[५] वहीं २.१.४.११-१३

कहा गया कि- पहले प्रजापति अकेला था। उसने प्रजा उत्पन्न करने के लिए तप किया। उत्पन्न हुई प्रजा समाप्त हो गई। यह वे पक्षी हैं। पुरुष प्रजापति के निकटतम है पुरुष के दो पैर होते हैं इसलिये चिड़ियों के भी दो पैर होते हैं- **पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठं द्विपाद्वो अयं पुरुषस्तस्माद् द्विपादो वयांसि।** प्रजापति ने सोचा पहले भी मैं अकेला था और अब भी अकेला हूँ, इसलिए उसने पुनः सृष्टि की, वह भी समाप्त हो गई। उसने तीसरी बार सृष्टि की। वह भी समाप्त हो गई, पूजा और श्रम करते हुए प्रजापति को ज्ञात हुआ कि प्रजा बिना भोजन के मर जाती है, इसलिए उसने अपने स्तनों में पहले से ही दूध भर लिया, तब उसने प्रजा उत्पन्न की। यह उत्पन्न प्रजा स्तनों का दूध पीकर जीती रही। जो प्रजा जीती रही वह अग्नि के चारों ओर बस गयी। जिस प्रकार प्रजापति ने इन प्रजाओं को उत्पन्न किया उसी प्रकार यह उत्पन्न होते हैं, क्योंकि जब स्त्रियों और पशुओं के थनों में दूध आ जाता है तभी बच्चे उत्पन्न होते हैं और स्तनपान कर जीते हैं। यह दूध ही अन्न है, क्येंकि प्रजापति ने पहले इसी भोजन को उत्पन्न किया। जिनके स्तनों में दूध नहीं होता वह अपने बच्चों को जन्मते ही चुगा देते हैं। इस प्रकार अन्न से ही जीते हैं, इसलिए अन्न ही प्रजा है।[६]

प्रजापति ने वैश्वदेव यज्ञ करके ही प्रजा उत्पन्न की। वह उससे उत्पन्न हुई प्रजा वरुण के जौ को खा गई। जौ पहले वरुण का ही था। चूंकि उन्होंने वरुण के जौ खाये इसलिए इस यज्ञ का नाम वरुणप्रघास पड़ा। वरुण ने उनको पकड़ लिया। वरुण से पकडे जाने पर वह सूज गये और लेट गये तथा सांस बाहर-भीतर लेते रहे। केवल प्राण और उदान ने उनको न छोड़ा और सब देवता छोड़ गये और इन्हीं दो के कारण प्रजा मरी नहीं।

प्रजापति ने इस हवि (वरुण-प्रघास) के द्वारा उनको स्वस्थ किया और जो प्रजा उत्पन्न हो चुकी थी और जो अभी उत्पन्न नहीं हुई थी उस सबको वरुण के जाल से मुक्त कर दिया और उसकी प्रजा रोग और दोष से रहित उत्पन्न हुई।[७] जब प्रजापति प्रजा बना रहा था तो पापी मृत्यु ने उसे आ

---

[६] वहीं २.५.१.१-६

[७] वहीं २.५.२.१-३

घेरा। उसने उस पाप को मारने की इच्छा से हजार वर्ष तप किया। जब वह तप तप रहा था, तब उसके लोमों (रोंगटों) की जड़ से ज्योतियाँ निकलकर ऊपर को गईं । ये जो ज्योतियाँ हैं, ये ही नक्षत्र हैं। जितने लोम हैं उतने ही नक्षत्र हैं। उतने ही हजार वर्ष के मुहूर्त्त हैं। हजारवें साल वह बिल्कुल पवित्र हो गया। यह जो पवित्र हो गया यही वायु है, जो बहता है।[८]

प्रजापति जब प्रजा बना चुका था, उसके जोड़ शिथिल हो गये। संवत्सर प्रजापति है और उसके जोड़ हैं रात-दिन की संधियाँ, पूर्णमासी, अमावस्या और ऋतुओं का आरम्भ। पहले प्रजापति एक ही था- **इदमग्रऽएक एवास।** उसने मुख से अग्नि को उत्पन्न किया, इसलिए अग्नि अन्न को खाने वाला है।[९]

उस समय पृथ्वी पर न ओषधियाँ थीं न वनस्पतियाँ थी- **तर्हि पृथिव्याम् नौषधय आसुर्न वनस्पतयः।** अब अग्नि प्रजापति की ओर मुँह फाड़कर खाने के लिये दौड़ा। प्रजापति डर गया और उसकी महिमा चली गयी। वाणी ही उसकी महिमा है। उसने अपने में आहुति की इच्छा की और हाथ मले। अब उसने घी या दूध की आहुति ली। वह उसे पसन्द नहीं आई क्योंकि वह केशमिश्रित थी। उसने उसे आग में डाल दिया। यह कहकर **ओषं धयः** (जलते हुए खा गया)। इसके बाद ओषधि उत्पन्न हुई। इसलिए उसका नाम ओषधि है। अब पुनः हथेलियाँ मली तब दूसरी आहुति घी या दूध की मिली। वह उसको पसन्द आ गयी। जब वह मरता है, तब उसको अग्नि में रखते हैं तो वह अग्नि से पुनः उठता है। अग्नि उसके शरीर को ही जलाता है। जैसे वह माँ या बाप से उत्पन्न होता है उसी प्रकार अग्नि से उत्पन्न होता हैं। जो अग्निहोत्र नहीं करता वह उत्पन्न होता ही नहीं इसलिए अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए।[१०] आहुति देकर प्रजापति ने हथेलियाँ

---

[८] वहीं ६.६.३.१-३

[९] अन्नादं वा इमम्

[१०] वहीं २.२.४.१, ३-८

मलीं। तब विकङ्कत वृक्ष उत्पन्न हुआ, इसलिये यह यज्ञ सम्बन्धी वृक्ष है और यज्ञपात्र इससे बनाये जाते हैं।[११]

शतपथ में अन्यत्र कहा गया कि प्रजापति ने जिस पहली आहुति को दिया था और आहुति देकर जहाँ हाथ धोये थे, वहीं विकङ्कत वृक्ष उत्पन्न हो गया।[१२] प्रजापति ने करीर के वृक्ष से प्रजाओं को सुखी किया[१३] तथा शमी के वृक्षों से शांत किया।[१४] जीविकाओं के संबध में मनुष्य और पशु दोनों देवताओं के ऋणी हैं। जीविकायें दो प्रकार की हैं- जड़ वाली और बिना जड़ की। यह दोनों देवताओं की हैं। इन्हीं के सहारे मनुष्य जीते हैं। पशु बिना जड़ के हैं और औषधियाँ जड़ वाली। बिना जड़ वाले पशु जब जड़ वाली ओषधियाँ को खाते हैं और जल पीते हैं तब रस उत्पन्न होता है।[१५] प्रजापति की सन्तान देव और असुर बड़ाई के लिए लड़ पड़े। तब असुरों ने देवों पर विजय के उद्देश्य से दोनों प्रकार की ओषधियाँ को अर्थात् जिनके सहारे मनुष्य और जिनके सहारे पशु रहते हैं, उनको कुछ अपनी चालाकी से और कुछ विष के द्वारा नष्ट कर दिया। इस पर न मनुष्य कुछ खा सके और न पशु। भोजन के अभाव में वे सब पराजित से हो गये।[१६] तब देवों ने यज्ञ करके उन सब ओषधियों को जिनके सहारे मनुष्य रहते हैं या पशु रहते हैं, उनको असुरों की चालाकी और विष के प्रभाव से मुक्त कर दिया, इसलिए अब मनुष्य भोजन करने लगे और पशु चरने लगे। अन्यत्र इस संसार को ब्राह्म रूप माना गया और उससे देवों की उत्पत्ति बतायी गयी।

---

[११] वहीं २.२.४.१०

[१२] वहीं ६.६.३.१

[१३] कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरुत। वही २.५.२.११

[१४] शं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः शमीपलाशैरकुरुत-वही

[१५] वही २.३.१.१०

[१६] वही २.४.३.२

उसने देवों को बनाकर तीन लोकों में चढ़ाया। अग्नि को भूलोक में, वायु को अन्तरिक्ष में और सूर्य को द्युलोक में। इनसे ऊपर जो लोक हैं, उन पर उन देवताओं को चढ़ाया जो इन देवताओं से ऊपर हैं। ये लोक और ये देवता आविर्भूत (स्पष्ट) हैं।[१७] देव पहले मर्त्य थे, जब ब्रह्म से व्याप्त हो गये तो अमर हो गये।[१८] अब ब्रह्म परार्ध में (इन लोकों से आगे) गया। पार जाकर वह नाम और रूप के द्वारा नीचे उतरा। जिस किसी का नाम है उसको नाम से और जिसका नाम नहीं है उसे रूप से पहचानते हैं। यह संसार वहीं तक है जहाँ तक रूप है।[१९] देवों ने पहले पहल पुरुष रूपी यज्ञ पशु का आलभन किया। वह आलभन किया पुरुष मेघ को चला गया और अश्व में प्रविष्ट हो गया। उन्होंने अश्व का आलभन किया, तब मेघ अश्व से निकलकर गाय में घुस गया। तब उन्होंने गाय का आलभन किया तब मेघ भेड़ में घुस गया। भेड़ का आलभन करने पर बकरी में चला गया। बकरी का आलभन करने पर पृथ्वी में चला गया। इसका रहस्य गवेषणीय है। पृथ्वी को खोदकर खोजने पर उसको पा लिया। यही चावल और जौ है। इनको आजकल भी पृथ्वी को जोतकर निकालते हैं। उन सब पशुओं के आलभन से जो लाभ होता है वही चावल की हवि से होता है।[२०] देवासुर संग्राम में ओषधि-वनस्पतियों का किसी एक के पक्ष में होने और लाभान्वित होने का उल्लेख मिलता है। जब एक बार देव-असुरों में संघर्ष हुआ तब देवों से सब ओषधियाँ चली गयीं। केवल जौ (यव) नहीं गये। अब देव जीत गये। जौ ने शत्रुओं की सब ओषधियों को खींच लिया इसलिए उसका यव (जौ) नाम

---

[१७] वही ११.२.३.१-२

[१८]मर्त्या ह वाऽअग्रे देवाडआसुः। स यदेव ते ब्रह्मणाः पुरथामृताऽआसुः-वही १२.२.३.६

[१९] वही ११.२.३.३

[२०] वही १.२.३.६-७

पड़ा। देवों ने सब ओषधियों में या उसको उन्होंने जौ रख दिया। इसलिये जब सब औषधियाँ सूख जाती हैं तब भी जौ हरे भरे रहते हैं क्योंकि देवों ने इनमें इस प्रकार रस भर दिया। इसी प्रकार यजमान भी इन्हीं जौ के द्वारा शत्रु के सत्त्व को खींच लेता है इसीलिए प्रोक्षणी पात्र के जल में जौ रखते हैं। देवासुर संग्राम के समय देव एवं असुर परस्पर लड़ पडे। सब वृक्ष असुरों की ओर हो गये केवल उदुम्बर देवों के साथ रहा। देवों ने असुरों को जीतकर उनके वृक्षों को ले लिया। उन्होंने कहा कि इन वनस्पतियों में जो ऊर्ज रस है उसे उदुम्बर में रख दें। पुनः यदि ये वृक्ष हमें छोड़कर चले भी जावें तो साररहित होकर जायेंगे जैसे दुही हुई गाय। इसलिए इन वृक्षों में जो कुछ ऊर्ज (रस) था वह सब उदुम्बर में रख दिया। उसी रस के द्वारा वह अकेला उतना ही पकड़ता है, जितना सब वृक्ष मिलकर पकडते हैं, इसलिए इस वृक्ष में सदा नमी और रस (दूध) बना रहता है। यह जो उदुम्बर है वह सब अन्न हैं।[२१] इन्द्र के विभिन्न अंगों से पशु तथा ओषधि-वनस्पतियों की उत्पत्ति का आख्यान मिलता है। इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वदेव को मार डाला। त्वष्टा ने अपने पुत्र के मरने पर इन्द्र का अभिचरण कर दिया और अभिचरण के लिए सोम को लाया, जिसमें इन्द्र का भाग न था। इन्द्र ने बलात् वह सोम पीकर यज्ञ को अपवित्र कर दिया। वह सब दिशाओं में घूमा और उसके अंग-अंग से इन्द्रिय सम्बन्धी वीर्य बह गया। उसकी आंखों से जो तेज बहा, वह धुएँ के रंग का पशु बकरा (अज) बन गया। उसके पलकों से जो बहा वह गेहूँ हो गया। उसके आंसुओं से जो बहा वह कुवल (फल विशेष) बन गया। उसके दोनों नथनों से वीर्य बहा, वह मेष था भेड़ पशु बना। श्लेष्म से इन्द्र और जौ, नाक के मल से बेर, उसके मुख से बल बहा, वह गाय पशु हुआ। फेन से जौ और थूक से कर्कन्धु फल। उसके कान

[२१] वही ६.६.३.२-३

से यश बहा। उससे एक खुर वाला घोड़ा, खच्चर, गधा हुआ। उसके दोनों स्तनों से जो बहा, वह दूध हो गया, जो पशुओं की ज्योति है। उसके हृदय या छाती से साहस बहा, उससे चिड़ियों का राजा चिड़ियों के खाने वाला बाज हुआ। उसकी नाभि से जो जीवन-रस बहा, उससे सीसा हुआ, न लोहा न चाँदी। उसके रेत या वीर्य से जो रूप बहा, उससे सोना उत्पन्न हुआ। उसके शिश्न से रस बहा वह परिस्रुद (कच्ची शराब) हो गई। उसके नितम्ब से प्रकाश निकला, वह सुरा हो गई, जो अन्न का रस है। उसके मूत्र से ओज निकला, वह भेड़िया हो गया, जो अरण्य पशुओं की तेजी है। उसकी अंतड़ियों से जो क्रोध बहा, वह व्याघ्र हो गया, जो अरण्य पशुओं का राजा है। उसके खून से जो सहनशक्ति बही, उससे सिंह हुआ, जो अरण्य पशुओं का ईश है। उसके लोम से चित्त बहा, उससे बाजरा हुआ। उसकी त्वचा से अपचिति (इज्जत) वही, उससे अश्वत्थ वनस्पति हुआ। उस के मांस से जो ऊर्ज बहा, वह उदुम्बर हो गया। उसकी हड्डियों से स्वधा वही उससे न्यग्रोध हुआ उसकी मज्जाओं से सोम का शर्बत बहा, उससे व्रीहि हुए।[२२] अन्यत्र कहा गया कि इन्द्र ने ओज से उस यज्ञ को घेरा तब उस घिरे हुये का रस बह गया और वह बदबू करता हुआ पड़ा रहा। उसने कहा मेरे इस रस ने फूटकर स्तुतियाँ की हैं, इससे आदर बना। वह बदबू करता था, इसलिए उसका नाम पूतिका भी है। इसलिए जब इनकी अग्नि में आहुति दी जाती है तब वे जलते यज्ञ के रस से उत्पन्न हुए इसलिए उनमें सुगन्ध आती हैं।[२३] इन विविध पशु एवं वस्तुओं की उत्पत्ति का क्या रहस्य है, यह ऋषिप्रज्ञ मनीषियों द्वारा गवेषणीय है। यहाँ शतपथ के तत् तत् प्रसंगों का वर्णन मात्र है।

देवता पर्यावरण के परिचारक, परितोषक व उपकारक तत्त्व हैं अतः

[२२] वही १२.७.१.१-९

[२३] वही १४.१.२.१२

पितृतुल्य हैं। पुत्रवत् मानव को अपने जीवन को दीर्घ और प्रियवाणी वाला बनाने के लिये उनकी सुमति में रहना चाहिए।[२४] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार देव मनुष्य के मन की बात जानते हैं। जो संकल्प मन में उठता है वह प्राण तक आता है, प्राण से वायु तक। वायु देवताओं को बता देता है कि मनुष्य के मन में क्या है?[२५] शुभ संकल्प सदा पर्यावरण का संवर्धन करते हैं जबकि अशुभ संकल्प पर्यावरण का विध्वंस करते हैं, अतः शिवसंकल्प[२६] सूक्त में मानव को सदा शुभ संकल्प वाला बनने के लिए प्रेरित किया गया है। पर्यावरण निर्मात्री शक्तियों में अग्नि का स्थान सर्वोपरि है- **देवो देवेषु देवः।**[२७] वह हजार प्राण तथा हजार व्यान से युक्त है अतः शक्तिसम्पन्न व तेजस्वी है।[२८] अग्नि प्राण है[२९] अतः जिससे अग्नि मुँह फेर लेता है, प्राण उससे मुँह फेर लेता है।[३०] जीवन देने के कारण इसे आयुर्दा कहा गया है। द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, वनस्पति, ओषधि, जल, वन और पशु में अग्नि व्याप्त है।[३१] यही कारण है कि पर्यावरण के ये सभी महत्त्वपूर्ण घटक जीवन्त है। यज्ञ हजारों प्रकार की पुष्टियों को देने वाला तथा संसार को विविध प्रकार से लाभ पहुँचाने वाला है।[३२] यज्ञ का सम्पादन अग्नि की दीप्ति

---

[२४] आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम् अथर्ववेद ६.४७. अन्यत्र द्रष्टव्य- वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम वही ६.९३

[२५] शतपथ ब्राह्मण ३.४.२.६

[२६] यजुर्वेद ३४.१-६

[२७] अथर्ववेद ५.२७.२

[२८] शतपथ ब्राह्मण ९.२.३.३२

[२९] प्राणो वा अग्निः वही २.२.२.१५

[३०] वही २.१.४.२०

[३१] अथर्ववेद १९.३.१-२

[३२] वही ९.४७१

और आहुति की दीप्ति से होता है।[३३] अग्नि वज्र से, बन्धनों से, दूषित यज्ञ और बुरे अन्न से यजमान को बचाता है और अन्न को विषरहित करता है।[३४] अग्निहोत्र यज्ञ पर्यावरण को पुष्ट व प्रदूषण रहित करता है, अतः कहा गया कि जो विद्वान् अग्निहोत्र यज्ञ करता है वह सारे पापों से जाता है। जब पर्यावरणीय घटकों का भद्र अर्थात् कल्याण होगा तो उससे उपस्थित जीवों का भी कल्याण होता है। यज्ञ करने से द्यावापृथिवी का कल्याण होता है- **इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्।**[३५] तत्पश्चात् दोनों यजमान के लिये कल्याणकारी हो जाते हैं।[३६] दोनों पशुओं के लिए हितकर और जीवन को बढ़ाने वाले होते हैं- **शंगवी जीवदानू इति।**[३७] दोनों कल्याणकारी, दान देने वाले, बलवर्धक और रस देने वाले ही जाते हैं।

शम्भुवौ मयोभुवाविति।[३८]

पर्यावरण में सुगन्ध और पुष्टि को बढ़ाने वाले रुद्र देवयज्ञ आदि से प्रसन्न करने का प्रयास कर उससे प्रार्थना की गयी कि हमको मृत्यु के बन्धन से इस प्रकार छुड़ावे जैसे उर्वारुक (खरबूजा) अपने डण्ठल से, परन्तु मोक्ष से नहीं-

ओ३म् त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारूकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥[३९]

---

[३३] वही ३.२७.८

[३४] शतपथ ब्राह्मण १.९.२.२०

[३५] वही १.९.१.३

[३६] वही १.९.१.४

[३७] वही १.९.१.५

[३८] वही १.९.१.७

[३९] यजुर्वेद ३.६०, शतपथ ब्राह्मण २.६.२.१२

शतपथ ब्राह्मण में भौगोलिक विवरण

डॉ० सुनीता सैनी[१]

कोई भी साहित्य अपने रचना अथवा संकलन काल की संस्कृति, इतिहास, भौतिक समृद्धि व भौगोलिक स्थितियों से अछूता नहीं रह सकता। साहित्य में ऐसे सन्दर्भ व उल्लेख आ ही जाते हैं जिससे तत्कालीन समाज, संस्कृति, इतिहास का परिचय प्राप्त होता है। मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों के योग से वैदिक साहित्य कलेवर में अत्यन्त विशाल हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण की भूमिका में ब्राह्मण ग्रन्थों का लक्षण बताते हुए म०म० विद्याधर शर्मा जी ने कहा है- **वेदचतुष्टयमन्त्राणां कर्मसु विनियोजकः कर्मविधायको नानाविधानादीविह्वासारण्यानबहुलो ज्ञानविज्ञानपूर्णो भागो ब्राह्मणभागः।**[२]

शतपथ ब्राह्मण में कर्मकाण्डपरक विधियों के वर्णन में जिन यज्ञपात्रों व यज्ञोपकरणों का उल्लेख मिलता है उससे प्राचीन भारत के भौतिक वैभव का परिचय अनायास ही मिल जाता है तथा अत्यन्त प्राचीनकाल की सुसमृद्ध व व्यवस्थित जीवन-शैली के दर्शन हो जाते हैं। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में कतिपय आख्यायिकाएँ भी संकलित हैं जिनसे तत्कालीन ऐतिहासिक व भौगोलिक विवरण उपलब्ध होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में कतिपय नदियों, पर्वतों, वनों, सरोवरों, सागरों व जनपदों के उल्लेख मिलते हैं जो ऐतिहासिक व भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

---

[१] **सहायकाचार्या, संस्कृत विभाग, म० दया० विश्वविद्यालय, रोहतक**

[२] शतपथ ब्राह्मण, भूमिका, पृष्ठ-२

विवेच्य ग्रन्थ में गङ्गा, यमुना, सरस्वती, व सदानीरा नदियों का वर्णन है जबकि पूर्व व पश्चिम की ओर बहने वाली सात-सात नदियों का उल्लेख भी मिलता है। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के १३वें काण्ड के ५वें अध्याय के चौथे ब्राह्मण में अश्वमेध यज्ञ करने वाले भूतपूर्व राजाओं का वर्णन मिलता है। उन्हीं में से एक स्थान पर कहा गया है- **तेन हैतेन भरतो दौषन्तिराझे तेनेष्ट्वेमां व्यष्टिव्यानशे येयं भरतानां तदेतद्गाथयाभिगीतमष्टासप्ततिं भरतो दौषन्तिर्यमुनामनुगङ्गायां वृत्रघ्नेऽबध्नात्पञ्चपञ्चाशतं हयानिति।**[3]

सरस्वती का जल सर्वप्रथम ग्रहण करने से सरस्वती की महत्ता का ज्ञान होता है, प्रथम दृष्ट्या ऐसा प्रतीत होता है कि सरस्वती नदी का अस्तित्व होगा। इसी स्थल पर आगे वर्णन है- **याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्** अर्थात् प्राचीन समय में मित्र व वरुण का अभिषेक सरस्वती के जलों से ही किया गया था। जबकि ताण्ड्य ब्राह्मण में सरस्वती नदी के विनशन स्थान पर लुप्त होने व प्लक्ष प्रस्रवण स्थान पर पुनः दृश्य होने का उल्लेख है।

इसी क्रम में वृतान्त है कि इस अग्नि के ताप से सभी नदियाँ सूख गईं- **स इमाः सर्वा नदीरतिददाहा।**

इससे भी स्पष्ट होता है कि सरस्वती नदी लुप्त हो चुकी थी। इसी आख्यायिका में सदानीरा नामक नदी का भी वर्णन है। सदा जल से भरी होने के कारण ही इसका नाम सदानीरा पडा था। इसे उत्तर दिशा के पर्वत से निकली हुई बताया गया है। ऐसा उल्लेख है कि प्राचीन समय में उस नदी के परे की ओर लोगों का निवास नहीं था। परन्तु शतपथ ब्राह्मण काल में वहाँ मनुष्य रहने लगे थे। इस नदी को विदेह माथव के मुख से निकली अग्नि भी सुखा नहीं सकी थी-

सदानीरेत्युत्तराङिगरेर्निर्द्धावति तां हैव नातिददाह तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनति दग्धाग्निना वैश्वानरेणेति।[4]

---

[3] माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण-१३.५.४.११

[4] वही- १.४.१.१४

इस नदी को तेज प्रवाह वाली व अत्यन्त शीतल बताया गया है।[५] विदेह माथव से पूर्व इस नदी के पूर्व में दलदल होने के कारण कोई निवास नहीं करता था।[६] शतपथ ब्राह्मण में इस स्थान की स्थिति भी बताई गई है- **सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा।**[७] अर्थात् सदानीर को कोसल व विदेह देशों के मध्य प्रवाहित कहा गया है। वर्तमान में इस स्थान पर गण्डक नामक नदी बहती है। इस स्थिति के अनुसार वर्तमान गण्डक ही सदानीरा हो सकती है। गण्डक नदी नेपाल से होती हुई पटना (बिहार) के समीप गङ्गा में मिल जाती है परन्तु महाभारत में गण्डकी व सदानीरा को भिन्न-भिन्न बताया गया है-

गण्डकीं च महाशोणां सदानीरां तथैव च।
एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्याव्रजन्त ते॥[८]

हो सकता है कि यहाँ गण्डकी से तात्पर्य छोटी गण्डक से हो जो उत्तरप्रदेश के देवरिया में बहती है। इन नदियों के अतिरिक्त मारुत आहुति देते समय पूर्व की ओर बहने वाली सात नदियों का उल्लेख है तथा **अरण्येऽनुच्य** आहुति के अवसर पर पश्चिम की ओर बहने वाली अन्य सात नदियों का भी उल्लेख मिलता है।[९] शतपथ ब्राह्मण में पर्वतों का उल्लेख भी मिलता है। सदानीरा नदी उत्तर दिशा के पर्वतों से निर्गत कही गई है। इसी प्रकार प्रथम काण्ड के ८वें अध्याय में मनु व मत्स्य की कथा के प्रसङ्ग में उत्तर गिरि का उल्लेख है-

तं स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे। तस्य शृंगे नावः पाशं प्रतिमुमोच। तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव।[१०]

---

[५] वही- १.४.१.१६

[६] वही- १.४.१.१५

[७] वही- १.४.१.१७

[८] महाभारत- सभा पर्व- २०.२७

[९] माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण- ९.३.१.१८,२४

[१०] वही- १.८.१.५

प्रलय के समय मनु ने उसी उत्तरी पर्वत पर अवसर्पण किया था इसलिए उत्तरी पर्वत के उस भाग को मनोरवसर्पण कहा गया- **तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति**[११] **।**

निस्सन्देह उत्तरगिरि भारतवर्ष के उत्तर में स्थित हिमालय पर्वत शृंखला ही है। तृतीय काण्ड में त्रिककुद् पर्वत का वर्णन है। इस स्थान पर इन्द्र ने वृत्र को मारा तथा उस वृत्र की आँख की पुतली से त्रिककुद् पर्वत बना। इस कथा में आधिदैविक तथ्य सम्भाव्य है। इस पर्वत से अञ्जन लाने का निर्देश यजमान को दिया गया है-

त्रैककुदं भवति। यत्र वाऽइन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीन्तं गिरिं त्रिककुदमकरोत्तद्यत्त्रैककुदं भवति चक्षुस्येवैततथ चक्षुर्दधति तस्मात् त्रैककुदं भवति।[१२]

कतिपय विद्वानों ने यमुनोत्री को त्रिककुद् पर्वत के रूप में चिह्नित किया है।[१३] काशिका में त्रिककुद् संज्ञक पर्वत का उल्लेख है- **त्रिककुत् पर्वत ककुदाकारं पर्वतस्य शृङ्ग ककुदमित्युच्यते न च सर्वत्रिशिखरः पर्वतत्रिककुत्। किं तर्हि? सञ्ज्ञैषा पर्वतविशेषस्य। त्रिककुदोऽन्यः।**[१४]

अथर्ववेद में भी त्रिककुद् पर्वत से अञ्जनग्रहण करने का निर्देश है।[१५]

शतपथ ब्राह्मण में दो सरोवरों के नाम भी मिलते हैं। ११वें काण्ड में पुरुरवा-उर्वशी की आख्यायिका के प्रसङ्ग में सरोवर का नामोल्लेख हुआ है। इसे कुरूक्षेत्र में स्थित कहा गया है।[१६]

वर्तमान ब्रह्म सरोवर ही अन्यतः प्लक्षा हो सकता है। महाभारत के

---

[११] वही- १.८.१.६

[१२] वही- ३.१.३.१२

[१३] Incient History of india, vedic period : A new Interpretation by kc. Single and roshan gupta, pg ५५.

[१४] काशिका- ५.४.१४७

[१५] Hynens of Atharvaveda by maurice Bloomfield, pg ६१

[१६] माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण- ११.५.१.४

वन पर्व में कुरूक्षेत्र के अन्तर्गत सरस्वती नदी का उद्गम स्थान बताया है, जहाँ वह नदी प्लक्ष नामक वृक्ष की जड़ से टपक रही है-

ततश्चापि सरिच्छ्रेष्ठा नदीनामुत्तमा नदी।
प्लक्षाद्देवा स्रुता राजन् महापुण्या सरस्वती॥[१७]

शतपथ ब्राह्मण में द्वैतवन सर का भी वर्णन मिलता है- **ध्वसा द्वैतवन ईजे मात्स्यो राजा यत्रैतद्द्वैतवनं सरस्तदेतद् गाथयाभिगीतं चतुर्दश द्वैतवनो राजा सग्रामजित् ह्यान् इन्द्राय वृत्रघ्नेऽबध्नात्तस्मात् द्वैतवनं सर इति।**[१८]

भारत के प्राचीन भूगोल में द्वैतवन का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। यह सरोवर उसी वन में होने से द्वैतवन सर कहलाता होगा। महाभारत वनपर्व में भी द्वैतवन का वर्णन है-

तमालतालाम्रमधूकनीपकदम्बसर्जार्जुनकर्णिकारैः।
तपात्यये पुष्पधरैरुपेतं मद्रावनं राष्ट्रपतिर्ददर्श॥[१९]

इसी अध्याय में द्वैतवन सर का भी उल्लेख है-

इदं द्वैतवनं नाम सरः पुण्यजलोचितम्।
बहुपुष्पफलं रम्यं नानाद्विजनिषेवितम्॥[२०]

द्वैतवन सर का सम्बन्ध मत्स्यराज से बताया गया है अर्थात् द्वैतवन मत्स्य क्षेत्र का सीमावर्ती वन रहा होगा। महाभारत के विराट् पर्व में वर्णन है कि पाण्डवों ने वनवासकाल के अन्तिम १३वें वर्ष का अज्ञातवास मत्स्यराज विराट् के राज्य में बिताने का निश्चय किया और द्वैतवन को छोडकर वे काम्यक वन पहुँचे।[२१]

इन उद्धरणों के आधार पर प्रसिद्ध इतिहासकार कनिंघम ने आधुनिक

---

[१७] महाभारत- वनपर्व- ८४.६,७

[१८] माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण- १३.५.४.९

[१९] महाभारत- वनपर्व- २४.१७

[२०] महाभारत- वनपर्व- २४.१०

[२१] महाभारत- विराट्पर्व- प्रथम सर्ग

जयपुर, अलवर व भरतपुर के कुछ भाग को प्राचीन मत्स्य क्षेत्र सिद्ध किया है।[२२] पार्जिटर मत्स्य क्षेत्र को चम्बल की ऊपरी घाटी पर स्वीकार करते हैं।[२३] जबकि रैपसन मत्स्य क्षेत्र का विस्तार पटियाला, देहली, अलवर गंगा-यमुना का मध्यवर्ती भाग तथा मथुरा आदि तक मानते हैं।[२४]

रामायण में भी एक स्थल पर मत्स्य क्षेत्र का उल्लेख मिलता है। कैकेयदेश से लौटते हुए भरत ने मत्स्यों के भारूण्ड नामक वन में प्रवेश किया था-

सरस्वतीं च गंगां च युग्मेन प्रतिपद्य च।
उत्तरान् वीरमत्स्यानां भारूण्डं प्राविशद् वनम्॥[२५]

रामायण में मत्स्यों के भारुण्ड वन तथा शतपथ व महाभारत में द्वैतवन का वर्णन मिलता है। नाम में अन्तर होते हुए भी इतना स्पष्ट है कि मत्स्य क्षेत्र के समीप किसी विशाल वन की अवस्थिति अवश्य रही होगी। मत्स्य क्षेत्र के अतिरिक्त भी शतपथ ब्राह्मण में कतिपय जनपदों का उल्लेख है।

यथा- कुरुक्षेत्र को देवों का यज्ञ-स्थान कहा गया है- **तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास।**[२६]

अन्यतः प्लक्षा सरोवर को भी कुरुक्षेत्र में स्थित कहा गया है।[२७] वर्तमान में यह स्थल इसी नाम से प्रसिद्ध है। राजा जनक के सम्बन्ध से विदेह देश का वर्णन भी मिलता है- **जनको ह वै वैदेहः।**[२८] इसके

---

[२२] कनिंघम, आरकियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया- वाल्यूम-२० पृ.-२

[२३] पार्जिटर- जे. ए० एस० वी-४१ पृ० २५१

[२४] रैपसन, एंशियंट इण्डिया, पृ० ५०-५१

[२५] रामायाण- २.७१.५

[२६] माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण-१४.१.१.२

[२७] वही-११.५.१.४

[२८] वही-११.६.२.१

अतिरिक्त कोसल व विदेह जनपदों का उल्लेख सदानीरा नदी के सम्बन्ध में भी हुआ है।[२९] कोसल देश का सम्बन्ध शतपथ ब्राह्मण में हैरण्यनाभ राजा के साथ भी उल्लिखित है।[३०]

शतपथ ब्राह्मण के १३ वें काण्ड की आख्यायिकाओं में काशी का उल्लेख दो स्थलों पर[३१] तथा पाञ्चाल क्षेत्र का उल्लेख चार स्थलों पर हुआ है।[३२] इन क्षेत्रों में काशी वाराणसी का ही प्राचीन नाम है तथा आज भी प्रसिद्ध है। जबकि कोसल जनपद में अयोध्या कोसल जनपद की राजधानी कही गई है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शतपथ ब्राह्मण एक विशाल ग्रन्थ है, जिसके १०० अध्यायों में यज्ञिय कर्मकाण्ड की विधियों का विस्तृत विवेचन हुआ है। इसमें भौगोलिक विवरण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। चार प्रमुख नदियों के नाम के साथ कुल चौदह नदियों का उल्लेख है। दो सरोवरों तथा हिमालयादि पर्वतों का वर्णन प्राप्त है। कतिपय जनपदों का भी प्रसङ्गवश उल्लेख आया है। गङ्गा-यमुना आज भी उसी नाम से प्रचलित है जबकि सरस्वती नदी रुप में उस समय भी लुप्त हो चुकी थी। सदानीरा वर्त्तमान में अन्य नाम से प्रवाहित है। त्रिककुद् पर्वत का उल्लेख तो यद्यपि वैदिक साहित्य में उपलब्ध हो जाता है परन्तु मनोरवसर्पण नाम अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अवस्थिति के अनुसार अन्यतः प्लक्षा वर्तमान ब्रह्मसरोवर ही है जबकि द्वैतवन सर की अवस्थिति स्पष्ट नहीं है परन्तु रामायण-महाभारतादि के उल्लेख द्वैतवनसर की सत्यता को प्रमाणित करते हैं। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध जनपदों के नाम रामायण-महाभारत व पुराणादि में उपलब्ध रहे हैं।

---

[२९] वही-१.४.१.१७

[३०] वही-१३.५.४.४

[३१] वही-१३.५.४.१९,२१

[३२] वही-१३.५.४.७,८,१६,१८

शतपथ में दर्शेष्टि एवं सान्नाय्य हवि का स्वरुप

(सामर्पण भाष्य के सन्दर्भ में)

डा० विनोद कुमार[१]

यह सर्वविदित तथ्य है कि वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध संहिताओं (चारो वेदों) के बाद ब्राह्मणग्रन्थों का स्थान आता है तथा कुछ सायणदि आचार्य तो **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**[२] कहकर ब्राह्मणग्रन्थों की भी वेद संज्ञा स्वीकार करते हैं।

यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों के वैशिष्ट्य एवं ज्ञानगरिमा प्रदर्शनार्थ उनका वेदत्व कथन अनुचित नहीं किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों के आख्यानात्मक एवं कर्मकाण्डपरक व्याख्यान को वेद कहकर वेद (ज्ञान या रहस्य) तक ना पहुंचना भ्रान्त्युत्पादक एवं ऋषिभावना के विपरीत है। वास्तव में ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं अपितु वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ कहे जा सकते हैं, जो कि अपौरुषेय न होकर ऋषिप्रणीत होने के कारण पौरुषेय हैं। इस विषय में वेङ्कट माधव का स्पष्ट कथन है-

संहितायास्तुरियाशं विजानन्त्यधुनातना।
निरुक्तव्याकरणयोरासीद्येषां परिश्रमः॥
अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः।
शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि॥[३]

---

[१] **सहायक आचार्य, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, काँधला, शामली**

[२] तन्त्रवार्तिक १.३.१०

[३] ऋग्वेदानुक्रमणी,मन्त्रार्थानुक्रमणी,अध्याय १,श्लोक १० एवं ११

महाप्रज्ञ पूज्य स्वामी समर्पणनन्द जी ब्राह्मणग्रन्थों को केवल मात्र वेदों का व्याख्यानग्रन्थ नहीं मानते। उनका कथन है कि ब्राह्मण वेद व्याख्यान हैं परन्तु यह कथन पूर्णतया यथार्थ नहीं। परमार्थतस्तु शतपथकार वेद मन्त्रों के भिन्न भिन्न यज्ञ क्रियाओं में विनियोग की व्याख्या करते हैं। अर्थात् यह बताते हैं कि इस मन्त्र के इस क्रिया में प्रयोग करने का क्या स्वारस्य है। इसी प्रसंग से इसमें मन्त्रों की भी व्याख्या हो गई है। सो इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि शतपथ का प्रतिपाद्य विषय दर्शपूर्णमास से लेकर अश्वमेध पर्यंत यज्ञ है।[४]

वर्तमान समय में उपलब्ध १६ ब्राह्मणग्रन्थों[५] में यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन (वाजसनेय) शाखा के शतपथब्राह्मण में १४ काण्ड, १०० अध्याय, ६८ प्रपाठक, ४३८ ब्राह्मण व ७६२४ कंडिकाएँ हैं, जबकि काण्वशाखा के शतपथ ब्राह्मण में १७ काण्ड, १०४ अध्याय, ४३५ ब्राह्मण तथा ६८०६ कंडिकाएँ हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ के नामकरण का प्रामाणिक व स्पष्ट आधार अद्यावधि अज्ञात है। कतिपय विद्वान् इस ग्रन्थ की सौ सौ कण्डिकाओं के समुदायात्मक विभाजन को आधार मानते हैं तो कुछ विद्वान् माध्यन्दिन (वाजसनेय) शतपथ की १०० अध्यायात्मक संख्या को "**शतं पन्थानो मार्गा नामाध्यायाः यस्य तच्छतपथम्**"।[६]

जैसा कि ऊपर कहा गया कि शतपथ ब्राह्मण प्रमुखतया यागप्रतिपादक ग्रन्थ है अतः इस लेख में दर्शपौर्णमासयाग के अन्तर्गत दर्शेष्टि के स्वरूप को महाप्रज्ञ पूज्य स्वामी समर्पणनन्द सरस्वती जी के सन्दर्भ में एवं उनकी नवोन्मेष प्रज्ञा के आलोक में समझाने का प्रयास किया जाएगा।

---

[४] शतपथ में एक पथ,पृ.२७

[५] संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास,प्रथम खण्ड,पृ. सं.३७५-४४०

[६] श्रीधर शर्मा द्वारा लिखित उपोद्घात, शतपथब्राह्मण,पृ.२२

"**द्रव्यं देवतात्यागो यागः**"[७] वचनानुसार याग का स्वरूप मुख्यरूप से द्विविध होता है देवतात्मक तथा द्रव्यात्मक। देवतात्मक को हम यज्ञ का दैवीय स्वरूप भी कह सकते हैं तथा द्रव्यात्मक को भौतिक स्वरूप कह सकते हैं। तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व याग का होता है कर्मकाण्ड की प्रक्रिया, जिसको मन्त्रों के साथ साथ नाना प्रकरणों में विनियुक्त किया जाता है । उल्लेखनीय है कि जहाँ यागादि के दैवीय स्वरूप से हमें आध्यात्मिक (मानसिक) लाभ प्राप्त होता है वहीं भौतिक स्वरूप से शारीरिक (आध्यात्मिक) लाभ प्राप्त होता है जो कि प्राय: व्यक्तिगत होता है। किन्तु जो कर्मकाण्ड की निर्धारित प्रक्रिया अथवा पद्धति है उससे हमें सामाजिक या सामुदायिक लाभ प्राप्त होता है। अत: स्वामी समपर्णानन्द जी शतपथ के मन्थनोपरान्त यज्ञ की परिभाषा देते हैं- '**कल्याणार्थिना सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायाङ्गतया क्रियमाणङ्कर्म यज्ञः**'[८]। चूँकि कर्मकाण्ड की विधि या प्रक्रिया प्रतीकात्मक होती है। उसमें प्रयोग किये जाने वाले पदार्थ भी प्रतीकात्मक होते हैं अत: उन दोनों के प्रत्यायनीय को समझे बिना उस याग का सामुदायिक अर्थात् सामाजिक लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता जो कि विभिन्न यागों का प्रमुख उद्देश्य है।

सोमयाग अथवा अग्निचयनविद्या के मात्र भौतिक स्वरूप का अनुष्ठान करने से कोई भी ब्रह्म अथवा मोक्ष (स्वर्ग) की प्राप्ति कर लेगा, ये भ्रमयुक्त अथवा काल्पनिक या कहिए असम्भव हैं। कठोपनिषद् मे नचिकेता को यमाचार्य स्वयं कह रहे हैं-

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यै प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥[९]

यहाँ पर अनित्य द्रव्यों से नित्य की प्राप्ति का तात्पर्य यही है कि भौतिक स्वरूप से नित्य तत्त्व ब्रह्म को तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता

---

[७] कात्यायन श्रौतसूत्र १.२.२

[८] शतपथ में एक पथ,स्वामी समर्पणानन्द,पृ.२७

[९] कठोपनिषद्,अ.१,वल्ली२,मं.१०

जब तक कर्म निष्ठा के साथ ज्ञान निष्ठा न उत्पन्न हो। ज्ञान ही नित्य है अतः उसके बिना अनित्य पदार्थों से नित्यतत्त्व की प्राप्ति सम्भव नहीं। अतः किसी भी कर्म काण्ड के प्रत्यायनीय जो कि ज्ञान स्वरूप है को समझे बिना तथा मन्त्रों के ही समान उस ज्ञान का विभिन्न अवसरों पर विनियोग किये बिना उसका लाभ प्राप्त करना कठिन तो है ही ऋषिभावना के साथ न्याय भी नहीं हैं। स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी दर्शेष्टि एवं पौर्णमासेष्टि को प्रतीकात्मक पदार्थों एवं कर्मकाण्डपरक प्रक्रिया के आधार पर क्रमशः गर्भाधानपूर्व सन्तानोत्पत्ति की तैयारी तथा जन्म के पश्चात् सन्तान के नव निर्माण के रूप में देखते हैं। शतपथ के आरम्भ में पौर्णमासेष्टि का वर्णन है तथा बाद में दर्शेष्टि वर्णित है। चूँकि पूर्णिमा एवं अमावस्या दोनों का सम्बन्ध चन्द्रमा से है अतः चन्द्रमा यहाँ पर सन्तान का प्रतीक है। अर्थात् चन्द्रमा का उदय ही सन्तान की प्राप्ति है। चूँकि दर्शपौर्णमास में दर्श शब्द पहले आता है तथा सन्तान निर्माण की प्रक्रिया से पूर्व सन्तानोत्पत्ति की प्रक्रिया घटित होती है अतः प्रथम इस लेख में दर्शेष्टि का स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है। स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती अपने शतपथ भाष्य में लिखते है- जब सन्तानोदय, सन्तान चन्द्रमा के न दिखने के पश्चात् अर्थात् पिछला बच्चा दूध न पीता हो, नया गर्भाधान न हुआ हो तो यही स्त्री पुरुष के शरीरों की खूब देखभाल करके जहाँ न्यूनता आ गई हो उसे पुष्टि देने का समय है। मन को सब ओर से हटा के पुष्टि की तरफ लगावें, यही दर्शेष्टि है[१०]। दर्शेष्टि शब्द में दर्श शब्द अमावस्या का प्रत्यायक है चूँकि यह इष्टि अमावस्या के दिन की जाती है अतः इसे दर्शेष्टि कहा जाता है। दर्श का अर्थ ही है नवसर्जना की पूर्वदृष्टि अर्थात् विचारणा। अर्थात् नवसर्जना करने से पूर्व क्या क्या अपेक्षित होता है? यह इस दर्शेष्टि (याग) में प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड की प्रक्रिया द्वारा पता चलता है। शतपथ की निम्नलिखित कंडिका में अमावस्या शब्द के रहस्य को प्रकट करते हुए ऋषि द्वारा चन्द्रमा का पृथिवी पर निवास बताना सन्तानोत्पत्ति की पूर्वसज्जा का ही संकेत प्रतीत होता है- 'तब देवो ने

[१०] शतपथ का पथिक, पृ. ४३८

कहा कि इसे सोम के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ से सहारा नहीं मिलेगा। इसलिए अब इसे सोम ही लाकर दे। सो उसे सोम लाकर दिया। वह सोम राजा यही तो है। यह जो चन्द्रमा है यही देवों का अन्न है सो जिस रात यह सामने न दिखे, न पीछे, उस दिन यह इस लोक में आ जाता है और क्योंकि वह इस लोक में जल तथा ओषधियों में प्रवेश कर जाता है और वही देवों का अन्न वसु है[११]। और क्योंकि यह उस रात्रि हमारे पास बसता है इसीलिए इस रात्रि को अमावस्या कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अमावस्या के दिन से दर्शेष्टि में क्षीणबल स्त्री पुरुष को सोम (चन्द्रमा अर्थात् सन्तान) की प्राप्ति हेतु पुष्टि की आवश्यकता है क्योंकि वही उनका वसु (धन)है। यद्यपि शतपथ में पहले पौर्णमासेष्टि का वर्णन है। किन्तु दर्शेष्टि एवं पौर्णमासेष्टि की विधि समान है अतः जहाँ शतपथ का आरम्भ पौर्णमासेष्टि की व्रतोपायनविधि से माना जाता है वही दर्शेष्टि के कर्मकाण्ड का भी आरम्भ उसी व्रतोपायनविधि से ही होता है। किञ्च इन दोनों की जो कुछ विधियां असमान या अतिरिक्त हैं उन्हें ग्रन्थ के तत्तत् प्रसंग में विशेष रूप से बताया गया है। अतः दर्शेष्टि के स्वरूप को समझने हेतु सर्वप्रथम व्रतोपायनविधि के प्रत्यायनीय को समझना चाहिए। दर्शेष्टि में जल के उपस्पर्शन द्वारा व्रत धारण किया जाता है। यहाँ जल (आपः) स्त्री का प्रतिनिधि है तथा अग्नि पुरुष का और गार्हपत्य घर है इसका तात्पर्य है जोड़ा मिलकर प्रजनन घर में ही करता है- **'ता उत्सिच्योत्तरेण गार्हपत्यं सादयति। योषा वा आपो वृषाग्नि गृहा वै गार्हपत्यस्तद्गृहेष्वेवैतन् मिथुनं प्रजननं क्रियते**[१२]। इसी प्रकार जब आहवनीय के उत्तर की ओर प्रणयन करता है इसका प्रत्यायनीय भी जल, स्त्री है और अग्नि पुरुष है, दोनों मिलकर ही प्रजनन करते हैं। जोड़े का यही ढंग सुहाता है। स्त्री की शय्या पुरुष के समीप उत्तर की ओर ही होती है। उपर्युक्त दोनों कण्डिकाओं से स्पष्ट पता चल रहा है कि यज्ञीय कर्मकाण्ड के आरम्भ में ही इस प्रतीकात्मक प्राक्रिया द्वारा प्रजनन

---

[११] श.ब्रां.का.१, अ.६, ब्रा.४, कण्डिका५

[१२] वही, का.१, अ.१, ब्रा.१, क.१८

(सन्तानोत्पत्ति) का ही रहस्य समझाने का प्रयास किया गया है। तभी शूर्प और अग्निहोत्रहवणी, स्फय और कपाल, शम्या और कृष्णाजिन, ऊखल और मूसल, सिल और बट्टा इन दसों का जोड़ा जोड़ा मिलाकर रखा जाता है। क्योंकि जोड़े में ही शक्ति है और इस यज्ञ का उद्देश्यभूत प्रजनन भी जोड़े के अधीन है। इस प्रकार आगे पात्रासादन विधि में भी हम देखते है कि पुरुष शूर्प है पत्नी अग्निहोत्रहवणी है जो कि क्रमशः यहाँ विवेक एवं जिज्ञासा के प्रतीक हैं और ये दोनों यज्ञ अर्थात् सामुदायिक योगक्षेम के लिए अर्पित हैं।

दर्शेष्टि में उपर्युक्त व्रतोपायनविधि से अतिरिक्त करणीय कर्मकाण्ड को आरम्भ करते हुए ऋषि आख्यान कथन करते हैं कि इन्द्र ने वृत्र पर वज्र का प्रहार किया जिससे डरकर वृत्र छिप गया और देवताओं ने जाना कि वृत्र मारा गया। तत्पश्चात् इन्द्र भी छिप गया। परन्तु तीन लोग उसे ढूंढने निकले- १. अग्निदेव २. हिरण्यस्तूप ऋषि ३. बृहती छन्द। किन्तु इन तीनों में अग्नि ही उसे जान पाया तथा पकड़कर ले आया। इससे देवो ने कहा कि आज हमारा वसु जो हमसे निकल भागा था उसे अग्नि ले आया है अतः इन दोनों के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश तैयार करते हैं। परन्तु इन्द्र ने कहा कि वृत्र पर वज्र प्रहार करने से मैं कृश हो गया हूँ और इस पुरोडाश से मेरी पुष्टि नहीं होगी। इसीलिए कोई ऐसा पदार्थ तैयार करो जिससे मेरी पुष्टि हो। तब देवताओं ने उसे सोम लाकर दिया जो कि गो (दुग्ध, दधि आदि) मिश्रित था[१३]। यही दर्शेष्टि का प्रमुख हवि द्रव्य सान्नाय्य है। इस आख्यान का रहस्य प्रकट करते हुए महाप्रज्ञ स्वामी समपर्णानन्द जी बतलाते हैं कि वृत्रासुर नाम कर्महीनता का है। और इसके अनेक रूप हैं जो असुर नाम से पुकारे जाते हैं जिनको इन्द्र मारता है। वैदिक भाषा का सवन शब्द लौकिक भाषा का श्रम है तथा इन सवनों में सबसे श्रेष्ठ सवन सन्तान की उत्पत्ति करना है क्योंकि इससे माता पिता पर पालन पोषण, शिक्षादि का भार जीवनभर के लिए आ पड़ता है जो उनके अंदर कर्महीनता बिल्कुल नहीं रहने देता।

[१३] वही, का.१, अ.६, ब्रा.४, क.१-७

इसीलिए वृत्रासुर का शत्रु होने के कारण यह सर्वश्रेष्ठ सवन है और आलसी मनुष्य इसीलिए सन्तान उत्पन्न करने से बड़ा घबराते हैं और इससे बचते फिरते हैं कि कहीं सन्तान न उत्पन्न हो जाए। फिर पालन पोषणादि का भार आ पड़ेगा। यहाँ भी इन्द्र अर्थात् यजमान ने गर्भाधान किया तो वह निश्चेष्ट सा पड़ा रहा उसे सन्देहवश वेदना हुई कि मैंने अपनी शक्ति व्यय कर दी इसीलिए शक्तिक्षयजन्य अथवा सन्तान के पालन पोषण की चिन्ताजन्य दुर्बलता के कारण वह छिप गया तब उसे अग्निदेव पकड़ के लाये। वास्तव में किसी महान् संकल्प की तन्तु को टूटने न देने वाली प्रबल भावना का नाम ही अग्निदेव है और ये दो देव जो घर आये हैं उनके लिए इन्द्राग्नि नाम का द्वादशकपाल पुरोडाश तैयार किया जाता है। यहाँ ऋषि कहते हैं कि जैसे घर आये दो सगे सम्बन्धियों या मित्रों के लिए भात या पुलाव मनुष्यों द्वारा पकाया जाता है वैसे ही इनके लिए द्वादशकपाल पुरोडाश बनाओ[१४]। स्वामी समर्पणानन्द जी शतपथ के सन्दर्भ द्वारा पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि यहाँ पुरोडाश मस्तिष्क का प्रतीक है- **'स वै कपालान्येवान्यतर उपदधाति। शिरो हवा एतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः। स यान्येवेमानि शीर्ष्णं कपालान्येतान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एव पिष्टानि'**[१५]**।** अतः भाव यह है कि गर्भाधान से पहले पिता का यह कर्तव्य है कि वह इस बात की पूर्ण तैयारी करें कि बच्चे में १२ के १२ कपाल पूरे हों अर्थात् उसका मस्तिष्क बिल्कुल ठीक बने और यह तैयारी दो प्रकार की है। एक तो यजमान दिन रात पूर्ण अग्निमय होकर पूर्ण ब्रह्मचारी बने। दूसरा तरह तरह के पुष्टि कारक पदार्थ का संग्रह अपने तथा पत्नी के लिए करके पूर्ण चंद्र बने। इसीलिए द्वादशकपाल पुरोडाश अर्थात् गर्भस्थित परिपक्व बालक इन्द्र और अग्नि के अर्पण हैं। एक और गम्भीर रहस्य इस द्वादशकपाल पुरोडाश को कहने में है कि यह मनुष्य शरीर बारह धातुओं से बना है अतः गर्भाधान में उनके ठीक परिपाक के लिए ये १२ की १२ धातु ठीक अवस्था में पिता में

---

[१४] वही, का.१, अ.६, ब्रा.४, कण्डिका३

[१५] वही, का.१, अ.२, ब्रा.१, कण्डिका१-२

होनी चाहिए और पत्नी में जिनकी न्यूनता पाई जाए वह उनको पहुंचाई जानी चाहिए जो कि निम्नलिखित है-१. केल्केरिया फ्लोर, २. केल्केरिया फॉस, ३. केल्केरिया सल्फ, ४. फेरम फास, ५. काली मूर, ६. काली फास, ७. काली सल्फ, ८. मेग्नेशिया फॉस, ९. नेट्रम मूर, १०. नेट्रम फास, ११. नेट्रम सल्फ, १२. साईलिशिया[१६]।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमा अमावस्या के उपरान्त प्रतिपदा से पुनः आकाश में अपनी परिक्षीण कलाओं को पुनरुज्जीवित करने में लग जाता है या शतपथ की भाषा में आहुतियों से एक दिन पुनः षोडशकलापूर्ण अपने स्वरूप को धारण कर लेता है- **'तदेनमद्भ्यः ओषधिभ्यः संभृत्याहुतिभ्यो अधिजनयति स एष आहुतिभ्यो जातः पश्चाद्ददृशे'**[१७]। ठीक इसी प्रकार जब पिछला बच्चा दूध पीना त्याग दे तब पुनः सन्तानोत्पत्ति के लिए गर्भाधान से पूर्व पति पत्नी को अपने शरीर को पुष्ट कर लेना चाहिए। दर्शेष्टि की प्रमुख हवि सान्नाय्य की आवश्यकता इसी रहस्य को प्रकट करती है। यहाँ ध्यातव्य है कि दर्शेष्टि में दो प्रमुख हवियाँ हैं- प्रथम द्वादशकपाल पुरोडाश जिसे इन्द्राग्नि पुरोडाश भी कहा गया है तथा द्वितीय सान्नाय्य। सान्नाय्य का अर्थ है मेल से पैदा होने वाला अर्थात् जिसमें दो चीजों का समन्वय किया जाए। सोम एवं गो का समन्वय यहाँ सान्नाय्य है तथा लौकिक कर्मकाण्ड में इसे दही माना गया है। क्योंकि वह दूध में जामन के समन्वय से बनता है यह दूध से भिन्न नहीं है। शतपथकार लिखते हैं- सो यह पदार्थ तो एक ही है। यह दूध ही है और कुछ नहीं। यह दही भी दूध ही है, और है भी इनका ही भाग। पर यहीं इसके नाम अनेक हो जाते हैं क्योंकि यह धिनोति अर्थात् रोचक है इसीलिए दधि कहलाता है। क्योंकि पकाकर बनाया गया है इसीलिए इसका नाम शृत है[१८]। उल्लेखनीय है कि पूर्वोक्त आख्यान में इन्द्र ने अपने क्षीण बल की परिपुष्टि में

---

[१६] शतपथ भाष्य,स्वमी समर्पणानन्द, प्रथम काण्ड पृ. ४१५

[१७] श.ब्रा., का.१, अ.६, ब्रा.४, कण्डिका१५

[१८] वही, का.१, अ.६, ब्रा.४, कण्डिका८

द्वादशकपाल पुरोडाश को अपर्याप्त माना तब उसे गोमिश्रित सोमरूप सान्नाय्य हवि दी गयी। इस प्रकार सोम एवं गो (पृथिवी लोक के पदार्थ) दोनों के सम्मिश्रण से तैयार की गयी सान्नाय्य हवि से इन्द्र परिपुष्ट हुआ। यहाँ भी सन्तानोत्पत्ति के इच्छुक माता पिता ने, मस्तिष्क एवं शरीर को तत्सम्बन्धी पौष्टिक तत्त्वों द्वारा अर्थात् साधनापूर्वक वीर्यसम्पन्न करते हुए उत्तम सन्तान उत्पन्न करने की कामना करनी चाहिए। अनिच्छापूर्वक घुणाक्षरन्याय से सन्तानोत्पत्ति इस विवाह संस्था का उद्देश्य नहीं।

शतपथभाष्यकार महाप्रज्ञ स्वामी समर्पणानन्द जी इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- याज्ञवल्क्य की सम्मति में सन्तान उत्पत्ति कर्म में शरीर में जो क्षीणता आती है उसको दूर करने का सर्वोत्तम उपाय यही (सान्नाय्य) है। किन्तु वह दही जिसमें से मलाई दूर न की गयी हो। बिना किसी पुष्टिकारक ओषधि के मेल के दही अकेला ही इस कार्य में समर्थ है। दूसरी ओर मस्तिष्क के प्रसंग में दही नाम उस साहित्य का है जिसे हम ललित साहित्य के नाम से पुकारते हैं। प्रथम सन्तान की उत्पत्ति तथा पालन पोषण द्वारा उत्पन्न होने वाली मानसिक क्षीणता को काव्य, नाटक, उपन्यासादि जीवन चरित्र सरीखा रसीला साहित्य ही दूर कर सकता है। व्याकरण, गणित, विज्ञान आदि सूखे विषय मस्तिष्क को शुद्ध तो कर सकते हैं परन्तु उसमें उमंग पैदा नहीं कर सकते। इसीलिए सान्नाय्य यज्ञ दही से किया जाता है[११]। यही तथ्य शतपथ में प्रतीकात्मक ढंग से निम्नलिखित कंडिका में कहा गया है- रात (अमावस्या) को अन्नभाग देवलोक से छूटकर इस लोक में आ जाता है। तब देव लोग सोचने लगते हैं कि क्या उपाय करें कि फिर ये हमारे पास आ जावे। हमसे पराङ्मुख होकर नष्ट न हो जाए सो यह सान्नाय्य यज्ञ (दधि भोजनादि द्वारा क्षीण शक्ति के पुनः संचय का यज्ञ) है। जो लोग करते हैं उनसे देव लोग आशा लगाए बैठे रहते हैं। यही हमें बटोर कर अन्न

[११] शतपथ भाष्य, स्वामी समर्पणानन्द, प्रथम काण्ड, पृ. ४१८

देंगे[२०]।

तात्पर्य यह हुआ कि दर्शेष्टि याग सन्तानोत्पादक माता पिता से सम्बन्ध रखता है। यह अमावस्या के दिन इसीलिए किया जाता है क्योंकि शतपथ का कथन है चन्द्रमा अमावस्या के दिन आकाश से लुप्त होकर पृथिवी लोक पर आ जाता है और इस लोक में जल तथा ओषधियों में प्रवेश कर जाता है। इसका आशय यह है कि चन्द्रमा का पृथिवी लोक पर आना प्रतीकात्मक है जो कि माता पिता की सन्तानोत्पत्ति के मानसिक निश्चय या विचार का मतिष्क में अवतरण का प्रत्यायक है। चूँकि वे दोनों पृथिवी लोक पर विद्यमान हैं। चन्द्रमा का ओषधियों एवं वनस्पतियों में प्रविष्ट होकर उनसे रस ग्रहण कर पुनः पुष्टि को प्राप्त कर लेना, माता पिता के सन्तानोत्पत्ति के मानसिक विचारानुकूल शरीर को पौष्टिक पदार्थों के रसाहरण द्वारा पुष्ट करते हुए उत्तम सन्तानोत्पत्ति हेतु पूर्ण सामर्थ्य को प्राप्त कर लेना ही चन्द्रमा का क्षीणावस्था को त्यागकर पुनः पूर्णकलासम्पन्न हो जाना है। यही शतपथ में वर्णित दर्शेष्टि का रहस्योद्घाटन है।

[२०] श.ब्रा., का.१, अ.६, ब्रा.४, कण्डिका १७

स्वामी समर्पणानन्द की अपूर्व दृष्टि : शतपथब्राह्मणगत आख्यायिकाओं के सन्दर्भ में

डा० रवि प्रभात[१]

भारतीय मान्यता के अनुसार वेद सृष्टिक्रम की प्रथम वाणी है।[२] फलत: भारतीय संस्कृति का मूल ग्रन्थ वेद सिद्ध होता है। पाश्चात्य विचारकों ने ऐतिहासिक दृष्टि अपनाते हुए वेद को विश्व का आदि ग्रन्थ सिद्ध किया है। अत: यदि विश्वसंस्कृति का उद्गम स्रोत वेद को माना जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

वेद की परिभाषा अनेक व्याख्याकारों ने बहुविध की है। आचार्य यास्क ने 'मन्त्र' शब्द को 'मन' धातु से निष्पन्न माना है।[३] पञ्चरात्र संहिता के अनुसार मनन करने से जो त्राण करते हैं, वे मन्त्र कहलाते हैं।[४] वेद को धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टय सिद्धि के उपाय बतलाने वाला कहा गया है।[५]

आचार्य सायण ने वेद के ज्ञानात्मक ऐश्वर्य को ध्यान में रखते हुए लक्षित किया है कि- अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति और अनिष्ट परिहार के

---

[१] **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, म०दया०वि०वि० रोहतक, हरयाणा**

[२] यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै॥ श्वेता. ३४.६.१८

[३] मन्त्रा: मननात्॥ निरुक्त ७.१२

[४] मननान्मुनिशार्दूल त्राणं कुर्वन्ति वै यत:। ददते पदमात्मीयं तस्मान्मन्त्रा: प्रकीर्तिता:॥ ई.स.३.७.प्र.

[५] वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपाया येन स: वेद:॥ का.श्रौ.भू पृ.४

अलौकिक उपाय को जो ग्रन्थ बोधित करता है वह वेद है।[६]

आचार्य लौगाक्षिभास्कर ने वेद को अपौरुषेय कहा है।[७] इसी तरह आचार्य उदयन ने भी कहा है कि जिसका दूसरा मूल कहीं उपलब्ध नहीं है और महाजनों अर्थात् आस्तिक लोगों ने वेद के रूप में मान्यता दी हो, उन आनुपूर्वी विशिष्ट वाक्यों को वेद कहते हैं। स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने दार्शनिक एवं याज्ञिक दोनों दृष्टियों का समन्वय करते हुए वेद का विशिष्ट लक्षण इस प्रकार उपस्थापित किया है-

शब्दातिरिक्तं शब्दोपजीविप्रमाणातिरिक्तं च यत्प्रमाणं तज्जन्यप्रमितिविषयानतिरिक्तार्थको यो यस्तदन्यत्वे सति आमुष्मिकसुखजनकोच्चारणकत्वे सति जन्यज्ञानाजन्यो यो प्रमाणशब्दस्तत्त्वं वेदत्वम्।[८]

उपर्युक्त लक्षणों की विवेचना करने पर यह तथ्य सामने आता है कि 'ऐहिकामुष्मिक फलप्राप्ति के अलौकिक उपाय का निदर्शन करने वाला अपौरुषेय विशिष्टानुपूर्वीक मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि वेद है। मनुस्मृतिकार ने भी वेद को '**सर्वज्ञानमयो हि सः**' कहकर सम्बोधित किया है, जिसे महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने शब्दों में 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' इस प्रकार व्याख्यायित किया है।

इस समग्र विवेचन का प्रस्तुतीकरण मात्र यह दर्शाने के लिए किया गया है कि भारतीय संस्कृति में किस तरह 'वेद' ग्रन्थ समादृत, प्रामाणिक एवं ज्ञान के स्रोत के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

आचार्यों ने सामान्यतः वेदों का विभाजन मन्त्र और ब्राह्मणरूप में किया है।[९] इसमें मन्त्रात्मक वैदिक शब्दराशि का मुख्य संकलन 'संहिता' के

---

[६] इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति सः वेदः॥ का.भा.भू

[७] अपौरुषेयं वाक्यं वेदः॥ अर्थसंग्रहः पृ.३६

[८] वेदार्थपरिजात॥ पृ.२०

[९] आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि॥ कौ.सू. १.३

नाम से प्राचीन काल से व्यवहृत होता आया है। संहितात्मक वैदकशब्दराशि पर ही पदपाठ, क्रमपाठ एवं अन्य विकृतिपाठ होते हैं। यज्ञों में संहितागत मन्त्रों का ही प्रधान रूप से प्रयोग होता है।[१०]

याज्ञिक दृष्टि से मन्त्र चार प्रकार के होते हैं- करण मन्त्र, क्रियमाणानुवादि मन्त्र, अनुमन्त्रण मन्त्र, जप मन्त्र।[११] मन्त्रातिरिक्त वेद भाग 'ब्राह्मण' पद से अभिहित किया जाता है। ब्राह्मण शब्द ब्रह्मन् से अण् प्रत्यय करने पर नपुंसक लिङ्ग में वेदराशि के अभिधायक अर्थ में सिद्ध होता है। आचार्य जैमिनि ने ब्राह्मण का लक्षण करते हुए कहा है कि- मन्त्र से बचे भाग में ब्राह्मण शब्द का व्यवहार करना चाहिए।[१२] आचार्य भट्ट भास्कर के अनुसार कर्म और कर्म में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों के व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मण हैं।[१३]

ब्राह्मण ग्रन्थों के दो भेद हैं- विधि तथा अर्थवाद। आचार्य आपस्तम्ब ने दोनों का भेद प्रदर्शित करते हुए कहा है कि कर्म की ओर प्रेरित करने वाली विधियाँ ब्राह्मण हैं तथा ब्राह्मण का शेष भाग अर्थवाद है।[१४]

इसी प्रक्रिया में वेद के भाग के रूप में माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो कि शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से सम्बद्ध है। शतपथ ब्राह्मण १४ काण्ड, १०० अध्याय, ४३८ ब्राह्मण तथा ७६२४ कंडिकाओं में निबद्ध है। शतपथ ब्राह्मण के नामकरण पर विमर्श करते हुए विद्वानों का मन्तव्य है कि शतपथ ब्राह्मण में १०० अध्याय हैं। अत: इसे शतपथ कहा गया है।

शतं पन्थानो मार्गा नामाध्याया: यस्य तत् शतपथम्। पाश्चात्य विचारक एग्लिङ्ग ने शतपथब्राह्मण की भूमिका में **शताध्यायवत्त्वात्**

---

[१०] अपि च संहितयैव विनियुज्यन्ते मन्त्रा: ॥ नि.२.१७ दुर्ग

[११] शेषे ब्राह्मणशब्द: ॥ मी.२.१.३३

[१२] ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणञ्च व्याख्यानग्रन्थ: ॥ तै.सं. १.५.१

[१३] कर्मचोदना ब्राह्मणानि। ब्राह्मणशेषोऽर्थवाद: ॥ आप.परि.३४.३५

[१४] शतपथब्राह्मण भूमिका ५.८० (एग्लिंग सम्पादित)

शतपथत्वम् इस व्युत्पत्ति का समर्थन किया है।[१५]

महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ में विविध यागों के स्वरूप पर विस्तृत रोचक चर्चा की है। प्रस्तुत शोधपत्र में शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में वर्णित आख्यानों का समग्र अध्ययन करने का प्रयास किया जायेगा, जिसमें कि शतपथकार की मूलभावना को उकेरने का तथा विभिन्न व्याख्याकारों के मतों का भी सूक्ष्म अवलोकन करने का प्रयास किया जायेगा। प्रथम काण्ड के द्वितीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में त्रिशीर्षत्वाष्ट्र-विश्वरूपवध की आख्यायिका याज्ञवल्क्य ने वर्णित की है। मूलरूप में आख्यायिका इस प्रकार है-

अग्नि पहले चार प्रकार का विहित था, वह अग्नि जिसको देवताओं ने पहले होता के रूप में वरण किया वह भाग गया। दूसरी बार जिसे चुना वह भी भाग गया। तीसरी बार जिसको चुना वह भी भाग गया। इसके अनन्तर इदानीन्तन जो अग्नि है वह डर कर छिप गया, वह जलों में प्रविष्ट हो गया। देवों ने उसे खोज लिया और बलात् वहाँ से निकाल लाये। अग्नि ने जलों पर थूक दिया और कहा कि तुम रक्षा के स्थान नहीं हो सकते क्योंकि मेरी इच्छा के विपरीत ये देवगण मुझको तुम में ले जा रहे हैं। अत तुम पर थूका है। उस ष्ठीवन में से आप्त्यदेव निकले- त्रित, द्वित और एकत ।[१६]

वे इन्द्र के साथ अनुगमन करते रहे जैसे कि ब्राह्मण राजा के साथ

---

[१५] चतुर्धा विहितो ह वा अग्निऽग्निरास। स यमग्रेऽग्निं होत्राय प्रावृणम् स प्राधन्वत। य द्वितीयं प्रावृणत। स प्रैवावधन्वत। यं तृतीयं प्रावृणत। स प्रैवावधन्वत्। अथ योऽयमेतर्ह्यग्नि:- स भीषा निलिल्य...तत आप्त्या: सम्बभूवुस्त्रितो द्वितस्कत:॥ श.ब्रा. १.२.३.

[१६] त इन्द्रेण सह चेरु:। यथेदं ब्राह्मणो राजानमनुचरति स यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान तस्य है तेऽपि वध्यास्य विदांचक्रु: शश्वद्धैनं त्रित एव जघानात्याह तदिन्द्रोऽमुच्यत। देवो हि स:॥ शत.ब्रा.१.२.३.२

विचरण करता है और जब इन्द्र ने त्वष्ट्रा के तीन सिर वाले पुत्र विश्वरूप को मारा तो वे इसकी वधार्हता की बात जान गये और तब त्रित ने इन्द्र की सहायता से उसे मार डाला। इन्द्र हत्या के इस पाप से बचा रहा। अत: वह देव है।[१७]

प्रस्तुत आख्यायिका के सन्दर्भ में जब पृथक्-पृथक् व्याख्याकारों के मत देखते हैं तो संगति लगाना कठिन होता है कि यहाँ पर अग्नि के पलायन कर देवों पर अग्नि के थूकने का थूक से त्रित, द्वित एकत के निकलने का तथा त्वष्टा के पुत्र के वध के प्रसंग का क्या सही अभिप्राय है। यहाँ पर अनेक विद्वान् शब्दानुवाद मात्र करते प्रतीत होते हैं, जिससे शतपथकार का पूरा कथ्य विदित नहीं हो रहा।[१८] पाश्चात्य विद्वान् एग्लिंग तथा गंगा प्रसाद उपाध्याय द्वारा की गई व्याख्या के अवलोकन से इन प्रसंगों की कोई उचित संगति लगती प्रतीत नहीं होती।[१९]

परन्तु इस प्रसङ्ग को समझने के लिए जब हम स्वामी समर्पणानन्द कृत भाष्य का आश्रय लेते हैं तो इन कंडिकाओं और आख्यायिकाओं के सन्दर्भ में एक अलग ही रहस्य उद्घाटित होता है।

इन्द्र का अर्थ ब्रह्माण्ड में परमेश्वर, जड़ देवताओं में आदित्य, मानव शरीर में जीवात्मा और राष्ट्र में राजा है।[२०] यहाँ इन्द्र संगठन का अधिपति

---

[१७] Him the gods discovered and brought forcifly away from the waters. He spat upon the water saying, Bespitten are ye who are an unsafe place of refuge. from whom they take me away against my will. Thence sprong the Aptya deities, Trita, Dita ana Eata.

[१८] (क) तस्मादाह इन्द्रो ब्रह्मेति। कौ.६.१४

(ख) द्वयेन वा एष इन्द्रो भवति यच्च क्षत्रियो यदु च यजमान॥ श.ब्रा.५.३.५.२२

[१९] ता.ब्रा.१०.३

[२०] शतपथ ब्राह्मण १.२.३, पृ-१२६ (स्वामी समर्पणानन्द हिन्दी व्याख्या)

है, वहीं त्वष्टा व्यक्ति का देवता है, इसलिए देव होते हुए भी इनका परस्पर युद्ध होता रहता है। त्वष्टा के व्यक्तियों के देवता होने में प्रमाण भी उपलब्ध हैं- **त्वष्टा वै रुयाणां विकर्ता**[२१] उपर्युक्त आख्यायिका में जो इन्द्र तथा त्वष्टा के पुत्र के युद्ध का वर्णन है इसका तात्पर्य यह है कि जब कोई व्यक्ति समाज की मर्यादाओं का अतिक्रमण कर स्वार्थवश उनका उल्लंघन करता है तो इससे अपने रक्षक इन्द्र की ही हानि करके विनाश को प्राप्त होता है। अन्ततोगत्वा स्वामी समर्पणानन्द जी की दृष्टि में इसी युद्ध का नाम इन्द्र और त्वाष्ट्रों (त्वष्ट्रा की सन्तान, वृत्र आदि) का युद्ध है।[२२]

स्वामी समर्पणानन्द अपनी अद्भुत सूझ बूझ से इस आख्यायिका को समाज व राष्ट्र से जोड़कर इसकी नियोजनीयता दर्शाते हैं। वैदिक वाङ्मय के इन्द्र और त्वष्टा का युद्ध सर्वहितकारी एवं प्रत्येक हितकारी के एक दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण का है।

त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप का त्रिशीर्षा कहा गया, जिसका एक मुख सोम पीता है एक सुरा पीता है तथा तीसरा अन्न खाता है। यह त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप वहाँ है जिसे अंग्रेजी में (M.B.) कहा जाता है। त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप हुल्लडशाही का प्रतीक है, जिससे मर्यादा के प्रतिनिधि इन्द्र का झगड़ा रहता है।

यह स्थिति तो इन्द्र और त्वष्टा की रही, परन्तु अभी भी यह प्रश्न अनसुलझा है कि त्रित, द्वित और एकत कौन है? जो इन्द्र के साथ विचरण करते हैं।

स्वामी समर्पणानन्द इसका समाधान यह देते हैं कि- ये तीन विभाग हैं, जिनकी स्थापना राष्ट्र में होनी चाहिए। त्रित: को यास्क ने **'तीर्णतमो मेधया'**[२३] ऐसा कहा है। अर्थात् जो अपने बुद्धिबल से उत्तीर्णतम हो। उत्तीर्ण

---

[२१] निरुक्त ४.८

[२२] शतपथ ब्रा. १.२.३.९

[२३] शत.ब्रा. सायण भाष्य १.२.३.९

शब्द अब भी परीक्षा में सफलता द्योतन के लिए प्रयोग होता है। इसलिए त्रित नाम परीक्षा लेने वाले का हुआ। अग्नि का अभिप्राय राज्याधिकारी हुआ। अच्छे राज्याधिकारी चुनने का कार्य राज्य में 'त्रित' के माध्यम से किया जाना चाहिए। जो योग्य व्यक्तियों को उनके अनुरूप कार्य में लगा सके। द्वित और एकत उन्हें ऐसे योग्य व्यक्ति ढूँढने चाहिए जो ऐश्वर्य पर थूकते हों। इस कार्य में 'त्रित' की सहायता करते हैं । यही राजा के साथ विचरण करने वाले होते हैं।

इस प्रकरण में एक अन्य तथ्य ध्यातव्य है कि एक स्थान पर मूल में '**तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यमपक्रान्तमेधा है ते पशवः'।**[२४] ऐसा प्रसंग आया है। जिसका अभिप्राय इस प्रकार है कि सारहीन गवय, ऊँट, शरभ आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए।

यहाँ पर सायणाचार्य ने **'किम्पुरुषादीनां पशूनां मांसम् नाशितव्यम् न भक्षितव्यम्'**[२५] मांस का अध्याहार किया है। एग्लिंग ने भी यहाँ पर मांस का ही प्रयोग किया है।[२६]

इस सन्दर्भ में स्वामी समर्पणानन्द का मन्तव्य अन्य विद्वानों से भिन्न है। उनका कथन है कि हम यहाँ पर मांस का अध्याहार क्यों करें? षष्ठी विभक्ति का अर्थ सम्बन्ध है तो हम यह अर्थ क्यों न करें कि एतत् सम्बन्धी अर्थात् इनका उत्पन्न किया अन्न दुग्धादि न खावें। अपने मत की पुष्टि में स्वामी जी कहते हैं कि अगर कोई यह कहे कि यहाँ पर षष्ठी कर्म के स्थान में हुई है इसलिए इन पशुओं को न खायें। ऐसा अर्थ कर सकते हैं, किन्तु यह वही कह सकता जिसने शतपथ का प्रथम पृष्ठ भी न पढ़ा हो।

इसी प्रकार प्रथम काण्ड में एक अन्य आख्यायिका प्राप्त होती है,

---

[२४] For this reason one should not eat (The Flesh) of these animals. शतपथ ब्रा. १.२.३.९, (एग्लिंग)

[२५] शत.ब्रा. १.२.३.९. पृ. १३८ (स्वामी समर्पणानन्द)

[२६] वही पृ.-१४०

जिसका मर्म समझने का प्रयास करते हैं। यज्ञवेदि के निर्माण के प्रसंग में देवों असुरों तथा यज्ञरूपी वामन विष्णु की चर्चा की गयी है।

प्रजापति की सन्तान असुर स्पर्धा में देवों से प्रबल हो गये तथा जगत् को अपना समझकर पृथ्वी का विभाजन करने लगे। तब देव भी अपना भाग लेने असुरों के पास पहुँचते हैं तथा यज्ञरूपी वामन विष्णु को आगे कर देते हैं। विष्णु को तीन ओर से छन्दों से घेरकर पूर्व की ओर आहवनीय अग्नि को स्थापित कर यज्ञजनित अर्चना और कर्मजनित श्रम करते रहे। इस प्रकार सन्मार्ग पर होते- होते कालान्तर में देवगणों ने समस्त पृथ्वी प्राप्त कर ली।[२७]

इस आख्यायिका के सन्दर्भ में जहाँ एग्लिंग आदि विद्वानों ने अपनी व्याख्या में किसी विशेष तथ्य की ओर संकेत न कर केवल अनुवाद मात्र किया। वहीं दूसरी तरफ स्वामी समर्पणानन्द ने इस आख्यायिका को समझाते हुए कहा है कि यही आख्यायिका पौराणिक वामन अवतार का मूल है, जो कि भागवत पुराण के अष्टम स्कन्ध के १५वें अध्याय से ६१वें अध्याय तक विस्तार से वर्णित है। इन्होंने दोनों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है।[२८]

एक अन्य आख्यायिका प्रथम काण्ड में उपलब्ध होती है जिसे ठीक से न समझ पाने के कारण महान् अनर्थ हुआ है । वैदिक वाङ्मय के आलोचकों को भी अभीष्ट अवसर की प्राप्ति हुई है। श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने अपनी व्याख्या में मूल कण्डिकाओं का अनुवाद निम्न प्रकार किया है- "प्रजापति अपनी लड़की अर्थात् द्यौ अथवा उषा पर मोहित हो गये और प्रसङ्ग की इच्छा हुई, उससे प्रसङ्ग किया। देवों के लिए यह पाप था कि कोई अपनी ही लड़की, हमारी बहिन के साथ ऐसा करता है। उन उव्वट ने उस देव से जो पशुओं का अधिष्ठाता (रुद्र) है कहा है कि यह जो पाप करता है, उसको बांध दो। रुद्र ने निशाना बांधकर उसे बींध दिया, उसका

[२७] शत.ब्रा. १.२.५.१, पृ.१६६ (समर्पणानन्द)

[२८] शत.ब्रा. १.७.४, पृ.१४७ सम्पादक स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

आधा वीर्य गिर पड़ा। यह ऐसे हुआ।[२९]

एग्लिंग भी प्रकारान्तर से प्राय: इसी प्रकार का मन्तव्य प्रकार करते हैं। स्वाभाविक रूप से प्रजापति का अपनी पुत्री के साथ संसर्ग अथवा उसकी कामना का प्रसंग किसी भी तरह से गले उतरने योग्य नहीं है। परन्तु प्रामाणिक दृष्टि के अभाव में इसका मर्म समझना सरल नहीं है।

जब इस प्रसंग की मीमांसा में सामर्पण भाष्य का आश्रय लेते हैं। तब एक अलग ही दृष्टि प्राप्त होती है जो कि सुसंगत भी है।

सबसे पहले स्पष्ट रूप में यह बता दिया गया है कि प्रजापति और दुहिता का प्रसंग मात्र आलंकारिक वर्णन है क्योंकि द्यौ और उषस् को मानने के लिए कहा गया है। भौतिक पुत्री जैसी कहीं कोई स्थिति अथवा परिकल्पना नहीं है।

समर्पणानन्द ने इस आख्यायिका को राष्ट्र अथवा राज्य व्यवस्था से साक्षात् सम्बद्ध किया है। जब राज्य के किसी विभाग का प्रभारी अधिकारी अपने विभाग से कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहे तो उसे यह नाम दिया गया कि यह पुत्री के साथ व्यभिचार के समान घोर पाप है।[३०] क्योंकि वह विभाग उसे पुत्री के समान सौंपा गया है। अधिष्ठाता को सब कुछ राष्ट्र को समर्पण करना चाहिए। यहाँ पर रुद्र के पास दण्ड देने के विभाग हैं। विभाग के कर्मचारी 'द्यौ' हैं तथा उनका उत्साह 'उषा' है। इस उत्साह एवं विश्वास का दुरुपयोग करके ही प्रभारी लोग स्वार्थ सिद्ध करते हैं। रुद्र का आध्यात्मिक अर्थ विवेक भी है।

---

[२९] Prajapati concived a passion for his own daughter, Either the sky or the Down may I pair with her, This, Thinking he united wid her. वही,पृ.-१६५

[३०] शत.ब्रा. १.७.४, पृ. ४६७ (स्वामी समर्पणानन्द)

इस स्थापना के बाद उक्त सम्पूर्ण प्रसंग सुसंगत एवं सुगम हो जाता है, जिसकी विस्तारधिया चर्चा करना उचित नहीं है।

यद्यपि शतपथ के प्रथम काण्ड में ही हुई आख्यायिका में वर्णित हैं, जिनका मर्म बेहद रहस्यपूर्ण है, परन्तु प्रस्तुत शोधपत्र के माध्यम से मात्र कुछ आख्यायिकाओं के निदर्शन से दर्शाने का प्रयास है कि अपनी विशिष्ट शास्त्र परम्परा को समझने के लिए कितनी व्यापक दृष्टि रखने की आवश्यकता है। इस व्यापक दृष्टि को अपनाने के लिए स्वामी समर्पणानन्द कृत शतपथ भाष्य निश्चित रूप से उत्पन्न सहायक सिद्ध होता है, जैसा कि उपर्युक्त विवेचना से भी स्वयंसिद्ध है।

स्वामी समर्पणानन्द ने '**वेदों के सम्बन्ध में क्या जानो और क्या भूलो**' नामक अपनी पुस्तक में दृढ़ता से इस मत का प्रतिपादन किया है कि वेदों का सुसंगत अर्थ करने के लिए विकासवाद, अदृष्टवाद तथा विनियोगवाद की अपेक्षा यौगिकवाद, समकक्षवाद तथा विज्ञाश्रयवाद का आश्रय लेना चाहिए। युक्तिपूर्वक इस विस्तार से वर्णन वहाँ पर किया गया है।

शोधपत्र का समाहार करते हुए यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि अगर स्वामी समर्पणानन्द के दिखाये मार्ग पर चलें तो ही शतपथ के मार्ग को समझ सकते हैं। अन्यथा मध्यकालीन एवं पाश्चात्य विचारकों द्वारा रचे गये प्रपंच से कभी भी मुक्त नहीं कर सकेंगे एवं ऋषियों के ऋण से कभी उर्ऋण नहीं हो सकेंगे।

शतपथ ब्राह्मण में अर्थ-मीमांसा

डॉ० रामरतन[१]

डॉ० सत्यकेतु[२]

ब्राह्मण का अर्थ- ब्रह्म शब्द के तीन अर्थ हैं, तदनुसार इसके तीन अर्थ होते हैं- (१) ब्रह्मन् का अर्थ मन्त्र है, अतः मन्त्रों की व्याख्या एवं विनियोग प्रस्तुत करने के कारण इन्हें ब्राह्मण कहते हैं। (२) ब्रह्मन् का अर्थ यज्ञ भी है, अतः यज्ञों की व्याख्या और विवरण प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों को ब्राह्मण कहते हैं। (३) ब्रह्मन् का अर्थ रहस्य भी है, अतः वैदिक रहस्यों का उद्घाटन करने के कारण इन्हें ब्राह्मण कहते हैं। इनमें यज्ञों का आध्यात्मिक, आधिदैविक और वैज्ञानिक महत्त्व प्रस्तुत किया गया है। भट्ट भास्कर ने कर्मकाण्ड तथा मन्त्रों के व्याख्या-ग्रन्थों को ब्राह्मण कहा है-

ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां व्याख्यानग्रन्थः।[३]

वाचस्पति मिश्र ने ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रयोजन निर्वचन, मन्त्रों का विनियोग, अर्थवाद (प्रतिष्ठान) और विधि माना है-

नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रास्य विनियोगः प्रयोजनम्।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते॥[४]

---

[१] **सहायकाचार्य, साहित्य विभाग, उ०सं०वि०वि०, हरिद्वार**

[२] **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ**

[३] तैत्तिरीय सं० १.५.१ (भट्टभास्कर)

[४] संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, डा० कपिलदेव द्विवेदी पृ० सं० ७३

वेदानुसार प्रमुख ब्राह्मणों का वर्गीकरण-

ऋग्वेदीय- (१) ऐतरेय ब्राह्मण (२) शांखायन (कौषीतकि) ब्राह्मण

शुक्ल यजुर्वेदीय- (३) शतपथ-ब्राह्मण

कृष्ण यजुर्वेदीय- (४) तैत्तिरीय ब्राह्मण

सामवेदीय- (५) पंचविश (ताण्डय या प्रौढ) ब्राह्मण (६) षड्विंश (७) सामविधन (८) आर्षेय (९) दैवत (१०) छान्दोग्य (उपनिषद्) ब्राह्मण (११) संहितोपनिषद् (१२) वंश-ब्राह्मण (१३) जैमिनीय (तलवकार) ब्राह्मण अथर्ववेदीय - (१४) गोपथ-ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र ब्राह्मण है। इसके दो पाठ प्राप्त होते हैं- (क) माध्यन्दिन-शाखीय। इसमें १४ काण्ड और १०० अध्याय हैं। १०० अध्यायों के कारण ही इसका नाम शतपथ पडा।

(ख) काण्वशाखीय। इसमें १७ काण्ड और १०४ अध्याय हैं। शतपथ-ब्राह्मण के रचयिता याज्ञवल्क्य ऋषि माने जाते हैं। इसके प्रारम्भिक ९ काण्डों में शुक्ल यजुर्वेद के १८ अध्यायों की व्याख्या है। इसमें दर्श-पौर्णमास, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, वाजपेय, राजसूय, अग्निरहस्य, अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध आदि का विस्तृत वर्णन है। इसमें पुरुरवा-उर्वशी, दुष्यन्तपुत्र भरत, मत्स्य, जल-प्लावन तथा मनु की कथाएँ हैं। इसमें सर्वप्रथम सांख्य के आचार्य आसुरि तथा पाण्डव राजा जनमेजय का उल्लेख है। बौद्ध साहित्य में प्राप्त पारिभाषिक शब्द अर्हत्, श्रमण और प्रतिबुद्ध का सर्वप्रथम प्रयोग इसी ग्रन्थ में है। इसकी शैली सरस, सरल, प्रसाद गुण-युक्त और प्रभावशाली है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के वैज्ञानिक दृष्टि से मुख्य विषय- विधि, निर्वचन, उपाख्यान और अर्थवाद आदि ज्ञात होते हैं। अर्थ-व्यवस्था के बिना समाज-रचना सम्भव नहीं और समाज के बिना अर्थ साधन निरर्थक है। वर्णाश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थ-योजना, पञ्चमहायज्ञ और संस्कार विधान आदि

सभी अर्थ तन्त्र के सञ्चालक माने जाते हैं। चतुर्वर्ण विभाजन मुख्यतः अर्थ दृष्टि से ही अस्तित्व में आया प्रतीत होता है। इसमें अर्थ तन्त्र, अर्थागम, वाणिज्य, कृषि और पशुपालन आदि अनेक व्यवसायों का समावेश है, इसे वार्ता कहा जाता है।[५] वैश्य को धनोपार्जन करने वाला कहा गया है।[६] पुरुषार्थ-योजना में अर्थ पुरुषार्थ भी व्यक्ति और समाज की आपूर्ति का विधायक है। अर्थ के बिना काम की सिद्धि असम्भव है और इसकी सिद्धि बिना मोक्ष की कल्पना सम्भव नहीं।[७] अर्थशास्त्रीय भाषा में साधनों को भी अर्थ कहा गया है।

अर्थागम के स्रोतों मे औद्योगिक-विकास और नवीन आविष्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है और समाज की उर्वर मेधा बुद्धि का प्रमाण भी। ज्ञान-विज्ञान के इन आविष्कारों पर ही किसी जाति और राष्ट्र की समृद्धि और सुरक्षा अवलम्बित है। इस दृष्टि में ब्राह्मण-काल बड़ा सम्पन्न है, जहाँ अनेक आविष्कार और उद्योगों का विकास दृष्टिगत होता है।[८] मानव किसी भी देश और काल का क्यों न हो? अर्थ उसकी मूलभूत आवश्यकता है। मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की व्यावहारिक संज्ञा ही अर्थ है। 'कौटिल्य' के मत में मनुष्य की वृत्ति (आजीविका) ही उसका अर्थ है।[९] चार पुरुषार्थ में अर्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्मण काल में अर्थ के मुख्यतः दो रूप मिलते हैं- कृषि एवं पशु। वाणिज्य और व्यवहार कृषि के सहायक रूप में दिखाई देते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त कृषि और पशुपालन-पालन, संहिता-कालीन कृषि आदि से उन्नत प्रतीत होते हैं। तत्समय आजीविका का मुख्य साधन कृषि और पशुपालन दिखाई देते हैं। विस्तृत उर्वर भूमि की उपलब्धि

---

[५] शतपथ-३.३.३.१, ५.३.५.७, ११.६.२.१ कृषि गोरक्षा वाणिज्य वार्ता।

[६] वैश्यो धनार्जनं कुर्यात्। महाभारत-५.१३२.३०

[७] न ज्यृतेऽर्थेन वर्तते धर्मकामाविति श्रुतिः। महाभारत शान्तिपर्व-१६७.१२

[८] शतपथ-ब्राह्मणः एक संस्कृति अध्ययन, पृ० सं० १८३

[९] मनुष्याणां वृत्तिः। कौटिल्य अर्थशास्त्र

स्वरूप उसके आर्थिक विकास का सन्तोषजनक होना स्वाभाविक था पुनः उर्वरकों का प्रयोग और सिंचाई प्रबन्धों के कारण उस समय उन्नत कृषि के दर्शन होते हैं।[१०] कृषि की मुख्य चार वैज्ञानिक क्रियाओं- कृषन्तः वपन्तः लुनन्तः और मृणन्त का उल्लेख प्रथमतः शतपथ में ही मिलता है।[११] अन्न समाज और राष्ट्र के जीवन का आर्थिक आधार है क्योंकि अन्न और दूध ही मनुष्य का भोजन माना गया है।[१२] अन्नाभाव में जीवन सम्भव नहीं है। ऋग्वेद वर्णित 'यव' परवर्ती काल में मात्र 'जौ' का पर्याय रह गया था किन्तु 'शतपथ' में इसका प्रयोग दोनों रूपों में मिलता है।[१३] यव का पहले सामान्य अन्न के लिए प्रयोग होना और फिर जौ के रूप में रूढ़ होना, इसके अपरिमित महत्त्व का द्योतक है क्योंकि आयुर्वैदिक दृष्टि से जौ में सभी ओषधियों के गुण माने जाते हैं।[१४] ब्राह्मण काल में विविध अन्न, पशुओं के लिए चारा, ईंधन, फल-फूल, सब्जियों, वनस्पतियाँ और वस्त्रों के लिए कपास आदि की कृषि होती थी।[१५] अतः कृषि तब न केवल भरण का साधन थी अपितु कृषि उपकरणों का आविष्कार, उपज और कार्य ब्राह्मणकालीन व्यवस्था के अर्थ-तन्त्रीय उज्ज्वलता के पोषक हैं।

ब्राह्मण साहित्य में अर्थ-व्यवस्था के सुदृढीकरण में पशु-पालन भी अति महत्त्वपूर्ण घटक है, पशुओं को अर्थ व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है।[१६] वैदिक साहित्य पशुओं को धन कहता है।[१७] शतपथ

---

[१०] शतपथ ब्राह्मण- २.१.१.७

[११] शतपथ ब्राह्मण- ६.१.१.३, ७.२.२.७

[१२] अन्नं हि राष्ट्रम्। शतपथ

[१३] शतपथ ब्राह्मण- १.४.४.२, २.५.२.१, २.६.१.९

[१४] शतपथ ब्राह्मण- ३.६.१.७

[१५] शतपथ ब्राह्मण- ७.२.१.७

[१६] शतपथ ब्राह्मण- ८.३.२.१०

[१७] अथर्व- ९.४.२०

ब्राह्मण में पालतू पशुओं का दार्शनिक वर्गीकरण है जहाँ इन्हें पाँच वर्गों में बांटा गया- गाय, अश्व, अवि, अज और मनुष्य।[१८] दार्शनिक दृष्टि से मनुष्य को पशुओं का राजा कहा गया है।

ब्राह्मण साहित्य में रासभ का भी वर्णन है। इसे खर और गर्दभ भी कहा गया है।[१९] भारवाहक पशुओं के लिए 'वाहन' शब्द मिलता है।[२०] संक्षेपतः ब्राह्मणकाल में यातायात के साधन अविकसित और मार्ग दुर्लभ हों। तब यातायात और परिवहन हेतु रासभ आदि से ही काम लिया जाता था जो तत्कालीन सञ्चार व्यवस्था और सुदृढ़ अर्थ-तन्त्र का संकेत है।

ग्राम्य पशुओं में बकरियों का विशेष महत्त्व है- भेड़ बकरी समस्त पद के लिए शतपथ में अजा-अवि और भेड़ों के लिए मेष-मेषी शब्द मिलते हैं।[२१]

ब्राह्मण साहित्य में घरेलू पशुओं के अतिरिक्त कुछ वन्य प्राणियों का भी वर्णन है। कुछ मानवोपयोगी भी थे, जिनमें हाथी और नील-गाय आदि उल्लेखनीय हैं।[२२]

शतपथ ब्राह्मण में मानवोपयोगी पदार्थों की उपलब्ध्ता हेतु अरण्य-पक्षियों का भी उल्लेख है जिनमें तीतर, श्येन, गौरेया, कबूतर, हंस, शकुनि आदि पक्षी प्रमुख हैं।

वस्तुतः मनुष्य का जिन घरेलू और वन्य प्राणियों से सम्बन्ध रहा है वे अर्थ की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ब्राह्मण साहित्य में यज्ञ भी अर्थ व्यवस्था को समष्टिरूप में परिलक्षित करता है जिनमें गृह्य-यज्ञ, श्रौत-यज्ञ,

---

[१८] शतपथ- २.८.४.६, १०.२.१.१

[१९] शतपथ- ४.५.१.९, ५.१.२.५, ६.१.१.१

[२०] शतपथ- ४.२.११.९

[२१] शतपथ- २.४.२.१५

[२२] शतपथ- ३.१.३.४, १३.३.४.३

सोम-संस्था, हवि-संस्था, अग्निहोत्र-यज्ञ, चातुर्मास्य-यज्ञ, वरुण-प्रघास-यज्ञ, अग्निष्टोम-यज्ञ, सौत्रमणी-यज्ञ, अग्नि-चयन यज्ञ, यज्ञीय उपकरण, दक्षिणा (जो यज्ञों की लघुता एवं गुरुता के अनुरूप दी जाती थी) आदि का 'अर्थ-तान्त्रिक' दृष्टि से विशद् वर्णन प्राप्त होता है।

ब्राह्मण साहित्य में अर्थ व्यवस्था के प्रचुर स्रोत प्राप्त होते हैं। तत्कालीन जीवनधारा समस्त भौतिक और आध्यात्मिक यज्ञ-विज्ञान से अनुस्यूत है। यहाँ धर्म, अर्थ, काम और परलोक परस्पर सापेक्ष हैं, इनके अस्तित्वों की पृथक् पहचान नहीं। अर्थ धर्म मूलक है, जीवन में जो कुछ भी प्रापणीय है वह यज्ञ से समवेत है, धर्म से अनुप्राणित है। तभी उसका कामशास्त्रीय मूल्य भी है। मोक्ष का आधार यज्ञ-धर्म तथा काम की समन्विति है, जो इस लोक को सार्थक बनाती है और परलोक अर्थात् स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करती है। अतः ब्राह्मण साहित्य में 'अर्थ-व्यवस्था' का स्रोत एवं महत्ता पदे-पदे परिलक्षित होती है।

शतपथ ब्राह्मण में कतिपय क्रियारूपों पर विचार

डा० रवीन्द्र कुमार[१]

शतपथ ब्राह्मण में कतिपय क्रियापद पाणिनि के व्याकरण से भिन्न रूप में भी प्राप्त होते हैं, जैसे-**भूयान्** (वि. लिङ् बहु) पाणिनि के अनुसार **भूयासुः** होता है। इसी प्रकार लट् में अट् का आगम व दिवादि के अभाव में श्यन् जैसे **अवद्यति**। पाणिनि के अनुसार '**वदति**' होना चाहिए। लिट् में अट् का आगम - जैसे - **अपुप्लुवे** (प्लु)। अक्ष् धतु के आदि अक्षर का लोप तथा विकरण को गुण का अभाव- **क्ष्णुतु**। पाणिनि के अनुसार **अक्ष्णोतु** बनता है। शतपथ ब्राह्मण में पाणिनि के **तिङ्** से भिन्न प्रत्यय **डु** प्राप्त होता है- **अदहडु** और इसका अर्थ- '**भस्म कर दिया**' भूत-काल में है।[२] इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में पाणिनि के नियम से भिन्न क्रियारूप कई स्थलों पर प्राप्त होते हैं।

गणों की दृष्टि से तथा क्रियारूपों की दृष्टि से सिद्ध हो जाता है कि शतपथ ब्राह्मण अर्थात् वैदिक काल में संस्कृत भाषा में पाणिनि के व्याकरण के नियमों का अभाव था। जिस कारण क्रियापदों में पाणिनीय नियमों का विपर्यय प्रतीत होता है।

---

[१] **सहायकाचार्य, श्री भगवानदास आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, हरिद्वार**

[२] शत० ६\६\३\११

पद-

संस्कृत की धातुएँ परस्मैपद तथा आत्मनेपद में प्रयुक्त होती हैं। पाणिनि के अनुसार कुछ धातु नित्य परस्मैपदी हैं तथा कुछ आत्मनेपदी। कुछ धातु ऐसी भी हैं जो दोनों पदों में प्रयुक्त होती हैं। इस प्रकार की धातुओं के सम्बन्ध में पाणिनि ने कहा है कि यदि क्रिया का फल कर्ता को प्राप्त होता है तो धातु से आत्मनेपद का प्रयोग होता है। अन्यथा परस्मैपद का।[3] पाणिनि की दृष्टि से **देवदत्तः कटं करोति** - का अर्थ है - देवदत्त किसी अन्य के लिये चटाई बनाता है तथा **देवदत्तः कटं कुरुते** का अर्थ है- देवदत्त अपने लिये चटाई बनाता है। यही अन्तर पचति और पचते का है। परन्तु संस्कृत साहित्य में इस व्यवस्था का पालन नहीं हुआ है। वैदिक संस्कृत में परस्मैपद तथा आत्मनेपद का प्रयोग पर्याप्तरूप में व्यत्यय से हुआ है। रामायण में भी पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट नित्य परस्मैपदी तथा नित्य आत्मनेपदी धातुएँ विपरीत पदों में प्रयुक्त हुई हैं।

शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार के पद व्यत्यय बहुत अधिक प्राप्त होते हैं। पद व्यत्यय की दृष्टि से प्रयुक्त धातुओं को निम्नवर्गों में विभक्त किया जा सकता है-

परस्मैपदी व आत्मनेपदी धातुएँ -

वे धातुएँ जो पाणिनि धतुपाठ में परस्मैपदी पढ़ी जाती हैं, परन्तु शतपथ ब्राह्मण में उनका प्रयोग आत्मनेपद में प्राप्त है- **अम्** और **कि**।

परस्मैपदी व उभयपदी धातुएँ -

इस वर्ग में वे धातुएँ जो पाणिनि ने परस्मैपद मानी हैं परन्तु शतपथ ब्राह्मण में दोनों पदों में प्रयुक्त हैं- अच्, अज्, अर्च, अद्, इष्, ईष्, कृड्, कृन्त्, क्रम्, जीव्, तप्, दा, पा, पिन्व्, पृच्, बुध्, मथ्, मन्थ्, मिथ्, मृश्, रक्ष्, रध्, वद्, वस्, वा, विश्, वृज्, शंस्, शास्, शिष्, शुन्ध्, श्रु, सज्, सद्, सू, स्पर्श, स्पृश्, स्फुर्, स्वद्, स्वप्, हन्।

आत्मनेपदी व परस्मैपदी धातुएँ -

---

[3] स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले। अष्टा० १\३\७२

इस वर्ग में ऐसी धातुएँ हैं जो पाणिनि के अनुसार आत्मनेपदी हैं परन्तु शतपथ ब्राह्मण में परस्मैपदी हैं- ऊह् तथा नह्।

उभयपदी व परस्मैपदी धातुएँ -

इस वर्ग में उन धातुओं को गिना गया है, जो पाणिनि धातुपाठ में उभयपदी हैं परन्तु शतपथ ब्राह्मण में परस्मैपद में प्रयुक्त हैं- ईर्, च्यु, छद्, छर्द, ज्ञप्, धूप्, प्री, मन्त्र, मि, मूर्छ्, यम्, रस्, रिच्, भृक, व्यय्, शम्, शिक्ष्, स्पृह्।

आत्मनेपदी व उभयपदी धातुएँ -

इस वर्ग में वे धातुएँ आती हैं जिन्हें पाणिनि ने आत्मनेपदी माना है, परन्तु शतपथ ब्राह्मण में उभयपदी प्राप्त होती हैं- कम्, जन्, दय्, दि, चक्ष्, मन्, युज्, युध्, शम्, रम्, लभ्, वृत्, वृध्, सह्, सु, स्वद्।

धातुओं का अर्थ-

पाणिनि के धातुपाठ में धातुओं के जो अर्थ दिये गये हैं उनसे भिन्न अर्थों में भी धातुओं का प्रयोग मिलता है। वास्तव में, धातुपाठ के अर्थनिर्देश को वैयाकरणों ने केवल उपलक्षण-प्रदर्शनमात्र माना है।[४] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने धातुओं को अनेकार्थक माना है।[५]

लकारः काल या वृत्ति-

पाणिनि के अनुसार भूतकाल के बोध के लिये लिट्, लङ् और लुघङ् लकारों का प्रयोग होता है। इनके अतिरिक्त निष्ठासंज्ञक त और तवत् प्रत्यय भी भूतकाल के बोध के लिये प्रयुक्त होते हैं।[६] लिट् लकार का प्रयोग परोक्षभूत में ही होता है।[७] लङ् लकार का प्रयोग अनद्यतन भूत में विहित है।[८] सामान्य भूत के लिये लुङ् के प्रयोग का विधान ही पाणिनि ने किया है।

---

[४] प्रदर्शनमात्रमित्यर्थः- सि०कौ०सू० २२३२

[५] अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति। महाभाष्य १\३\७

[६] निष्ठा। पा० अ० ३\२\१०२

[७] परोक्षे लिट्। पा० अ० ३\२\११५

[८] अनद्यतने लङ्। ३\२\१११

परन्तु शतपथ ब्राह्मण में लकारों में व्यत्यय प्राप्त होता है जैसे- अभिपद्य[९] प्रयोग लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन का है। किन्तु यह भूतकाल में प्राप्त होता है।

शतपथ ब्राह्मण में सभी लकारों के क्रियारूप होते हैं। लौकिक संस्कृत के समान ही इनमें सबसे अधिक लट् लकार के तथा सबसे कम आशीर्लिङ् लकार के प्रयोग प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में लेट् लकार के प्रयोग भी कई स्थलों पर प्राप्त होते हैं- जैसे- गच्छात्,[१०] हरासै,[११] मृजात्,[१२] हिनसत्[१३] आदि। पाणिनि के अनुसार जहाँ धातु को **छे च**[१४] सूत्र से तुक् का आगम होता है, उसका शतपथ ब्राह्मण में निषेध प्राप्त होता है- जैसे गछति, यछति, छति आदि।

प्रत्ययान्त धातुरूप-

शतपथ ब्राह्मण में प्रत्ययान्त धातुओं के क्रियारूप प्रेरणार्थक- १३१४, सन् प्रत्ययान्त- १०४, यङ् लुगन्त- ३१, अभिचाकशीति[१५], अभिचाकशीमि[१६], अबीभजुः[१७] तथा नाम धातु के आठ क्रियारूप प्राप्त होते हैं।

भृशार्थक या पौनःपुन्यार्थक यङ् का प्रयोग कहीं नहीं है। कण्ड्वादिगण की पाँच धातुओं (इषुध्, कण्डु, तुरण्, भिषज् तथा लेलाद्) के ६४ क्रियारूप प्राप्त होते हैं।

---

[९] शत०ब्रा० २\१\२\१६, ९\५\१\७

[१०] शत०ब्रा० १/८/३/१२

[११] शत०ब्रा० १०/४/३/९

[१२] शत०ब्रा० ५/१/२/१८

[१३] शत०ब्रा० ३/६/३/१८

[१४] पा. अ० ६/४/७४

[१५] शत. १४/७/१/१२

[१६] शत. ७/५/२/११

[१७] शत. ४/१/३/१६

सोपसर्गक्रियारूप-

सोपसर्ग क्रियारूपों में अधिकांश क्रियारूप एकोपसर्गी ही हैं। दो उपसर्गों वाले क्रियारूप भी बहुत हैं तथा तीन उपसर्गों वाले ४८ क्रियारूप प्राप्त होते हैं। परन्तु चार उपसर्गों से युक्त केवल सात क्रियारूप ही उपलब्ध होते हैं-

१. अन्ववाप्रापेयुः - शत. ११/८/१/३(अनु+अव+आ+प्र+अप+इ)
२. अभिप्रत्यवैति - शत. ५/५/३/२ (अभि+प्रति+अव+आ+इद)
३. आतिप्राणाश्यानि- शत. ६/७/२/१० (आ+अति+प्र+आ+नश्)
४. पुनराप्यायन्ति - शत. ९/५/२/१३ (पुनः+आ+अपि+आ+इ)
५. प्राघुदाद्रवति - शत. १२/४/४/६-७ (प्र+आङ्+उद्+आ+द्रु)
६. व्यनुपर्यैति - शत. ७/५/१/३७ (वि+अनु+परि+आ+इ)
७. समभ्यवैति - शत. ३/८/५/८ (सम्+अभि+अव+आ+इ)

उपसर्गों की दृष्टि से उपसर्ग निरर्थक, सार्थक तथा विशेषार्थक - इन तीनों रूपों में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में विविध प्रकार से क्रियाओं का प्रयोग प्राप्त होता है। पाणिनि व्याकरण में विहित नियमों का शतपथ ब्राह्मण में अनेकत्र अप्रयोग है।

शतपथ ब्राह्मण वैदिक वाङ्मय का ही एक अंश है। इसीलिए पाणिनीय व्याकरण के '**व्यत्ययो बहुलम्**'[१८] सूत्र का प्रयोग वहाँ समझना चाहिए। ब्राह्मणों को भी छान्दसप्रयोग के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसीलिए '**छन्दसि लिट्**'[१९] **छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**'[२०] इत्यादि सूत्रों का प्रयोग यहाँ भी समझना चाहिए। इससे शतपथ ब्राह्मण को समझने में अत्यन्त सहायता मिलेगी।

---

[१८] अष्टा. ३.१.८५

[१९] अष्टा. ३.२.१०५

[२०] अष्टा. ३.४.६

शतपथ-ब्राह्मण में निरुक्ति-विज्ञान

डा० वेदव्रत[१]

डा० कर्मवीर आर्य[२]

शतपथ ब्राह्मण में कहा है- **“ब्रह्म वै मन्त्रः”।**[३] अत: 'ब्रह्म' शब्द का एक अर्थ 'यज्ञ' भी है। इस आधार पर मन्त्रों की व्याख्या करने के साथ-साथ यज्ञ में उनका विनियोग करने तथा कर्मकाण्ड की व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण भी उन्हें ब्राह्मण नाम से अभिहित किया गया है। भट्ट भास्कर ने कर्मकाण्ड तथा मन्त्रों की व्याख्या करने वाले ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' कहा है।[४]

शतपथ-ब्राह्मण की विषयवस्तु-

शतपथ-ब्राह्मण विषय-वैविध्य से आप्लावित है। प्रकृत ब्राह्मण-ग्रन्थ में ज्ञान-विज्ञान के अनेकों स्थल प्राप्त होते हैं जो कभी सूत्र रूप में हैं तो कभी विस्तार से विवेचित हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से समृद्ध यह ग्रन्थ समस्त ग्रन्थों में मूर्धन्य है। इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपनी अपनी विचारधाराएँ प्रस्तुत की हैं। शबर स्वामी ने मीमांसा भाष्य में ब्राह्मण ग्रन्थ के विषय को दस श्रेणियों में इस प्रकार विभाजित किया है-

---

[१] **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

[२] **संस्कृत विभाग, हिन्दू कॉलेज, मुरादाबाद**

[३] शतपथ ब्राह्मण ७/१/१/५

[४] ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां व्याख्यानग्रन्थः। (तै.स.१/५/१भाष्य) भूमिका भास्कर, पृ. २९३

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥[५]

अर्थात् हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परक्रिया, पुराकल्प, व्यवधारणकल्पना, उपमान ये दस ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित विषय हैं। प्रतिज्ञा परिशिष्ट में कात्यायन ने भी ब्राह्मण विषय के दस भाग माने हैं। किन्तु विवरण में किञ्चित् भिन्नता परिलक्षित होती है- "**विधिर्निन्दाप्रशंसाध्यात्ममधियज्ञम- धिदैवतमधिभूतमनुवचनं परकृतिः पुराकल्पः।**"

शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या पद्धति और उसका उद्देश्य -

यद्यपि शतपथ ब्राह्मण का उद्देश्य स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, सायण इत्यादि के समान वेदमन्त्र की व्याख्या करना नहीं है तथापि याज्ञिक प्रक्रिया, सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया इत्यादि के वर्णनों में आनुषंगिक रूप से वेदमन्त्रों अथवा वैदिक शब्दों की व्याख्या इस ब्राह्मण में की गयी है। इसका उद्देश्य मन्त्रविनियोग, निर्वचन, आख्यान इत्यादि के द्वारा मन्त्रों का स्पष्टीकरण है। अनेक स्थानों पर यह भी बताया गया है कि मन्त्रों के शब्द तथा देवता, ऋषि, याज्ञिक उपकरण किन विशेष तत्त्वों के प्रतीक हैं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण के इन विभिन्न व्याख्यात्मक तत्त्वों को संगृहीत करके एक स्थान पर रखना और वेदव्याख्या पद्धति में उनके योगदान का मूल्यांकन करना, इस शोधलेख का प्रमुख उद्देश्य है।

संक्षेपतः, शतपथ-ब्राह्मण यज्ञिय क्रिया-विनियोगों की विस्तृत व्याख्या करने वाला ग्रन्थ है तथापि इसमें अनेक अन्य सूक्ष्मतम दार्शनिक तथ्य भी अपने सर्वाङ्ग रूप में उपस्थित हैं। लेख के द्वारा ब्राह्मण-ग्रन्थ के

---

[५] शबरस्वामी मीमांसा भाष्य २/१८ (जैमिनि सूत्र)

दश दार्शनिक प्रतीकों का चयन करके उनकी व्याख्या की गयी है जिसके द्वारा कर्मकाण्ड से व्यतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थ के विशिष्ट स्वरूप का परिचय प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ शुक्लयजुर्वेदीय-माध्यन्दिन-शतपथ-ब्राह्मण से सम्बन्धित हैं अतः शुक्लयजुर्वेद से आवश्यक उद्धरणों को तो उद्धृत किया ही गया है साथ ही निरुक्त, निघण्टु तथा वेदार्थ ज्ञान में सहायक अन्यान्य ग्रन्थों का भी प्रयोग किया गया है यत: किसी एक शास्त्र को सम्पूर्ण मानकर वेदार्थ की व्याख्या करना उचित नहीं हैं तथा एकाङ्गी ज्ञान कथमपि सफल नहीं हो सकता है। अतः उक्त ग्रन्थ में **'भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति'** के आधार पर उक्त प्रतीकों की व्याख्या की गयी है।

निर्वचन :- ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याख्या करते समय निर्वचनों का आश्रय लिया गया है। निर्वचनों द्वारा प्राप्त अर्थों से ब्राह्मण-वाक्यों का समर्थन होता है। उदाहरणार्थ- **'तद्दध्नो दधित्वम्**।[६] अर्थात् 'वह दही का दहीपन है" उसे दही कहते हैं। इस वाक्य में 'दधि' शब्द का निर्वचन (व्युत्पत्ति) किया गया है।

अनेक भाष्यकारों ने भाष्य लिखते समय इन निर्वचनों की सहायता ली है। महर्षि दयानन्द ने निर्वचनों का पूर्ण उपयोग किया है।

शबरस्वामी कहते हैं- ब्राह्मणों के शब्द मन्त्रों के व्याख्यानरूप होने से विधि शब्दों की ही भाँति हैं।[७] वेद का अर्थ स्पष्ट करने वाले ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्यानरूप हैं- इस बात को प्राचीन, मध्यकालीन तथा अर्वाचीन सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। वाचस्पति मिश्र ने ब्राह्मणग्रन्थों को निर्वचन, मन्त्रों का विनियोग, अर्थवाद तथा विधि इन चार प्रकार के प्रयोजनों से युक्त बतलाया है।[८]

---

[६] तैत्तिरीय संहिता २/५/२/२३

[७] मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्दवत् इत्युच्यते। - शबरस्वामी

[८] नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोग: प्रयोजनम्। प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते॥ (वाचस्पति मिश्र)

ब्राह्मण ग्रन्थ निर्वचनों से युक्त हैं, उनमें निरुक्ति द्वारा शब्दों के अर्थ समझाये गए हैं यथा- **यज्ञो वै विष्णुः, राष्ट्रं वा अश्वमेधः, सत्यमाज्यम्, यज्ञो वै वसुः, प्राणो वै वसिष्ठः, वीर्यं वा अश्वः, मनो वै भारद्वाजः, कश्यपो वै कूर्मः, प्राणो वै कूर्मः, चक्षुर्वै जमदग्निः** इत्यादि निर्वचनों से ब्राह्मणग्रन्थ परिपूर्ण हैं।[१] इतना ही नहीं, अर्थ का औचित्य सिद्ध करने हेतु दिशा-निर्देश भी प्राप्त होते हैं।

शतपथ-ब्राह्मण के निर्वचन-

शतपथ-ब्राह्मण में यज्ञीय अनुष्ठानों के क्रिया-विनियोगों के साथ ही प्रसङ्गानुसार प्राप्त अनेक महत्त्वपूर्ण शब्दों का निर्वचन भी प्राप्त होता है। निर्वचनों के प्रारम्भिक इतिहास के लिए शतपथ-ब्राह्मण उपादेय ग्रन्थ है। यह निरुक्तियों का भंडार है। निरुक्तियाँ अत्यन्त सार्थक, बुद्धिमत्तापूर्ण तथा रोचक हैं। व्युत्पत्तिपरकता को शतपथ की एक सामान्य प्रवृत्ति के रूप में पग-पग पर देखा जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण के कुछ निर्वचनों की यहाँ पर विवेचना प्रस्तुत है।

आहुति – “**स वै यः सोऽत्ताग्निरेव सः। तस्मिन् यत्किञ्चाभ्यदधाति आहितयः एवास्य ता आहितयो ह वै ता आहुतय इत्याचक्षते**”अर्थात् “यह जो खाने वाला है, वह अग्नि ही है। जो कुछ उसमें रखते हैं। यह इसकी आहिति है। ‘आहिति' को ही 'आहुति' कहते हैं।

अध्वर- देवान्ह वै यज्ञेन यजमानांत्सपत्ना असुरा दुधर्षा चक्रुस्ते दुधूर्षन्त। एव न शेकर्धूर्वितुं ते पराबभुवूस्तस्माद्यज्ञोऽध्वरो नाम। अर्थात् जब देव यज्ञ कर रहे थे तो उनके शत्रु असुरों ने उस यज्ञ का विध्वंस करना चाहा- **दुधूर्वाञ्चक्रुः**। परन्तु विध्वंस की इच्छा करते हुये भी वे विध्वंस न कर सके। वे हार गए। इसीलिए यज्ञ का नाम अध्वर हुआ।

---

[१] भूमिका भास्कर पृ. २९७ से उद्धृत।

अग्रेपूः – "ताः यत्प्रथमाः सोमस्य राज्ञी भक्षयन्ति तेन अग्रेपुवः"।[१०] क्योंकि पहले वे सोम राजा का पान करते हैं, इसलिए कहा अग्रपुवः। इस शब्द की व्युत्पत्ति भक्ष (खाना, पीना) धातु से की गयी है।

अन्तरिक्षम्- "तयोर्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत् तदन्तरिक्षमभवत। ईक्षं हैतन्नाम ततःपुरा। अन्तरा वा इदमीक्षमभूदिति तस्मादन्तरिक्षम्"।[११] जब पृथ्वीलोक और द्युलोक अलग हुए तो बीच का स्थान, अन्तरिक्ष हो गया। यह इन दोनों के लिए "ईक्षा" थी। यह ईक्षा बीच में आ गयी, इसलिए अन्तरिक्ष हुआ। यह शब्द अन्तरा+ईक्ष से मिलकर बना है। जैमिनि ब्राह्मण में भी शतपथ ब्राह्मण के समान ही इसकी व्याख्या की गयी है।[१२] यास्क ने इसकी व्याख्या अन्तरा+क्षा, अन्तरा+क्षि तथा अन्तर्+अक्षय इस प्रकार से की है।[१३] अन्तरा - दोनों द्युलोक और पृथ्वी के मध्य है (क्षयति)।

अवि- "अवी इतीयं चासौ चेमे हीमाः सर्वाः प्रजा अवती"।[१४] यह पृथ्वी ही अवि है, क्योंकि यह सब प्रजाओं की रक्षा करती है। इसकी व्युत्पत्ति अव (रक्षणे- रक्षा करना) धातु से की गयी है।

आपः- "अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्। तत्प्रथमेनैवैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति..... एतेन सर्वमाप्तं भवति"।[१५] 'जल से ही यह सब सृष्टि

---

[१०] शत.ब्रा. १/१/३/७

[११] शत.ब्रा.७/१/२/३३

[१२] स यो ह पुरुषो, य एवायमन्तरिक्ष आकाश एष एव स पुरुषः तद् यद् दृश्वद् अन्तरिक्ष न रमते पूर्णत्वैतं न रमते अथो यदस्मिन् अन्तर ईक्षते तस्मात् अन्तरिक्षम्। (जैमि. ब्रा. २/५६)

[१३] अन्तरा क्षान्तं भवति, अन्तरेमे क्षियतीति वा, शरीरेष्वन्तरक्षयम् इति वा। (निरु. २/१०)

[१४] शत.ब्रा. ६/१/२/३३

[१५] शत.ब्रा. १/१/१/१४-१५

व्याप्त है। इस प्रकार इस पहले कर्म से ही वह जगत् की प्राप्ति करता है।

उपस्थानम् - **“यदेव सायं प्रातराहवनीयमुप च तिष्ठते, उप चास्ते तदेव तस्योपस्थानम्। अथ यदेव प्रतिपरेत्य गार्हपत्यम् आस्ते वा शेते वा तदेव तस्योपस्थानम्। अथ यत्रैव संव्रजन्नन्वाहार्यपचनमुपस्मरेत् तदेव तं मनसोपतिष्ठेत, तदेव तस्योपस्थानम्। अथ प्रातरनशित्वा मुहूर्तं सभायामासित्वापि कामं पल्ययेत तदेव तस्योपस्थानम्। अथ यत्रैव भस्मोद्धृतमुपनिगच्छेत् तदेव तस्योपस्थानम् एवतु हास्यैता देवता उपस्थिता भवन्ति”।**[१६]

अर्थात् 'जो प्रात: और सायं को आहवनीय के पास खड़ा होना और बैठना है यही उसकी (अग्नियों की) उपासना है, जब लौटकर गार्हपत्य के पास बैठना या लेटना है वह उसकी उपासना है, जब (आहवनीय से) निकलकर अन्वाहार्य पचन का स्मरण करना तथा मन में उसके पास ठहरना है वह उसकी उपासना है, और प्रात: काल बिना खाये मुहूर्त-भर सभा में बैठना और यथेच्छा परिक्रमा देना है वही उसकी उपासना है, जहाँ उसमें से लेकर भस्म डाली जाती है वहाँ ठहरना है, वही उसकी उपासना है। इस प्रकार उन देवताओं की उपासना हो गयी।'

इस शब्द की व्युत्पत्ति उप उपसर्गपूर्वक स्था धातु से की गयी है जहाँ निगच्छेत् क्रिया का प्रयोग है वहाँ भी निकलकर ठहरने का भाव विद्यमान है।

उपवास - उपवास का निर्वचन ‘उप' तथा 'वसथ' को मिलाकर करते हैं क्योंकि देवता उस दिन यज्ञशाला के निकट (उप) वास (वसथ) कर लेते हैं। अत: उसे उपवसथ कहा जाता है।

उपावी – **“उप हि द्वितीयोऽवति। तस्मादाह उपावीरसि”।**[१७] तू

---

[१६] शत.ब्रा. २/३/२/४-५

[१७] शत.ब्रा. ३/७/३/९

समीप रक्षा करने वाला है, साथी रक्षा करता है, इसलिए कहता है, 'उपावीरसि'। इसकी व्युत्पत्ति उप+अव (रक्षणे) धातु से की गयी है।

उलूखलम्- "**उरु मेऽकरदिति तस्मादुरुकरम्। उरुकरं ह वै तदुलुखलमित्याचक्षते"।**[१८] वह मेरे लिए चौडा स्थान देगा। इसीलिए उरुकर हुआ। उसी का उलूखल हो गया। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार यह शब्द उरु+करम् से मिलकर बना है। यास्क ने इसकी व्याख्या (१) उरु+कर, (२) ऊर्ध्व+ख तथा (३) ऊर्ज+कर, की है।[१९] जिसका अर्थ है- (१) जो चौड़ा करता है अथवा फैलता है (२) जो ऊपर खाली स्थान रखता है, (३) जो कार्यक्षमता उत्पन्न करता है॥

ऋषिष्टुत - "**ऋषयो ह्येतमग्रेऽस्तुवंस्तस्मादाह ऋषिष्टुतः**"।[२०] 'पहले ऋषियों ने ही इसकी (अग्नि की) स्तुति की। इसलिए कहा 'ऋषिष्टुत॥

क्रतु – "**संवत्सर एव क्रतुरेकत्रिंशस्तद्यत्तमाह क्रतुरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि करोति"।**[२१] संवत्सर ही क्रतु एकत्रिंश (चौबीस पक्ष, छः ऋतुयें और इकतीसवाँ स्वयं संवत्सर) है। क्रतु इसलिए कहा कि संवत्सर ही सब भूतों को 'करता' या बनाता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति डुकृञ् (करणे) धातु से की गयी है। यास्क इसकी व्याख्या ज्ञान के रूप में करते हैं।[२२]

ग्रह - (१) "**यद् यदैनं पात्रैर्व्यगृह्णात् तस्माद् ग्रहा नाम"।**[२३] 'क्योंकि उसको पात्रों के द्वारा ग्रहण किया, इसलिए इनका नाम ग्रह पड़ा।'

(२) "**यद् गृह्णाति तस्माद् ग्रहः**"।[२४] 'ग्रहण करने से इसका नाम

---

[१८] शत.ब्रा. ७/५/१/२२

[१९] उरूकरं वा, ऊर्ध्वखं वा, ऊर्ककरं वा। (निरु. ९/२०)

[२०] शत.ब्रा. १/४/२/६

[२१] शत.ब्रा. ८/४/१/२१

[२२] अथ प्रज्ञानामानि- केतः। केतुः। चेतः। चित्तम्। क्रतुः। निरु. (३/१३)

[२३] शत.ब्रा. ४/१//५

[२४] शत.ब्रा. १०/१/१/५, १०/४/१/१३

'ग्रह" है।

गायत्री - (१) "**सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना यदगायत् तस्मादिदं गायत्री"।** उसने अपने को पूर्ण जानकर गाया इसलिए गायत्री हुई।

(२) "**अग्निः एव अस्यै पृष्ठे सर्वः कृत्स्नो मन्यमानो अगायत् यदगायत् । तस्मादग्निः गायत्र इति"।** 'अग्नि ने ही इसकी (पृथिवी की) पीठ पर अपने को पूर्ण मानकर गाया, इसलिए अग्नि ही गायत्र है। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी इसकी व्याख्या की गयी है।[२५] 'गायत्री' पृथिवी तथा अग्नि का विशेषण है। यह एक छन्द का नाम भी है। इस शब्द की निरुक्ति दो प्रकार से की गयी है-

(१) गै (शब्दे-गाना) धातु से तथा

(२) गय+त्रैङ् (पालन- रक्षा करना) धातु से।

यास्क इसकी निरुक्ति गै (शब्द) धातु से करते हैं।

छदिश्छन्दः - '**अतिछन्दा वै छदिश्छन्दः। सा हि सर्वाणि छन्दांसि छादयति।"** 'अतिच्छन्द को छदि कहते हैं क्योंकि वह सब छन्दों को ढक लेता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति छद (सवंरणे- ढक लेना) धातु से की गयी है।

भारत - '**भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहुरेष, उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वैवाह भारतेति।'**[२६] भारत इसलिए कहा कि यही देवों के लिए हव्य रखता है। (भरति)। इसलिए 'अग्नि भारत है। इन प्रजाओं को प्राण बनकर पोषण करता है, इसलिए भारत है।' इस शब्द की व्युत्पत्ति भृञ् (भरणे) धातु से की गयी है।

भुज्यु- '**यज्ञो वै भुज्युः यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति।**'[२७] ' यज्ञ

---

[२५] बृहदारण्यकोपनिषद्

[२६] शत.ब्रा. १/४/२/२

[२७] शत.ब्रा. ९/४/१/११

भुज्य है क्योंकि यह सब भूतों की रक्षा करता है।' इस शब्द की व्युत्पत्ति भुज् (पालनाभ्यवहारयोः, खाना, सहायता करना) धातु से की गयी है। यज्ञ पहले अर्पित की गयी आहुति का भोग करता है, ग्रहण करता है, फिर यजमान की रक्षा करता है।

भुव - 'अग्निर्वै भुवः अग्नेर्हीदं सर्वं भवति।'[२८] 'अग्नि को 'भुवः' इसलिए कहा कि अग्नि से ही यह सब जगत् होता है (भवति)।' शतपथ-ब्राह्मण में अन्यत्र 'भूः- भुवः- स्वः' इन तीनों को व्याहृतियाँ कहा गया है। भूः यह लोक है, भुवः अन्तरिक्ष और स्वः वह लोक है।[२९] 'भुवः' को प्रजा भी कहा गया है।[३०] प्रस्तुत प्रसंग में इस शब्द की व्युत्पत्ति भू (सत्तायाम्-होना) धातु से की गयी है।

यजमान - 'यद्यजते तद्यजमानः।'[३१] क्योंकि यज्ञ करता है।

पुरुष- इमे वै लोको पूः अयमेव पुरुषः। योऽयं पवते। सोऽस्यां शेते तस्मात् पुरुषः। अर्थात् "ये लोक पुर हैं और पुरुष वह है जो बहता है, वह इस पुर में लेटा है, इसलिए वह पुरुष है।"

पुरोडाश - 'स वा एभ्यस्त्पुरोऽदाशयत्। य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत्तस्मात् पुरोदाशः पुरोदाशो ह वै नामैतद्यत्पुरोडाश इति।' 'उन्होंने (देवों ने) इसे 'पुरा' अर्थात् आगे 'अदाशयत्' अर्थात् देने को रखा, जिसने इनके लिए यज्ञ को आकर्षक बनाया, इसलिए इसका नाम 'पुरोडाश' (पुरोदाश ही पुरोडाश) है।' यह शब्द पुर+दाशः से मिलकर बना है। 'दाशः' शब्द दाशृ (दाने-देना) धातु के साथ घञ् प्रत्यय लगाकर बना है।

---

[२८] शत.ब्रा. ८/१/१/४

[२९] 'भूः भुवः स्वः इति एतासु व्याहृतिषु गायति। भूरिति वाऽयं लोको, भुव इत्यन्तरिक्षलोकः।' शत. ब्रा. ८/७/४/५

[३०] 'भुव इति प्रजाः' शत. ब्रा. २/१/४/१३

[३१] शत.ब्रा. ३/२/१/१७

पृष्ठय - 'अंगिरसः सर्वैः स्तोमैः सर्वैः पृष्ठैः गुरूभिः सामभिः स्वर्गलोकमस्पृशन्। यदस्पृशन् तस्मात् पृष्ठ्यः। 'सब स्तोमों, सब पृष्ठों, भारी सामों द्वारा अंगिरों ने स्वर्गलोक को छुआ।' क्योंकि छुआ (स्पर्श किया) इसलिए इनका नाम पृष्ठ्य हुआ।' यह यज्ञ का नाम है। इसका समय छः दिन का होता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति स्पृश (संस्पर्शे-स्पर्श करना) धातु से की गयी है। यास्क ने भी इसकी व्युत्पत्ति इसी धातु से की है। स्वाभाविक रूप से पृष्ठ्य में आद्य सकार का लोप हो गया है।

धाता- स दिक्षु प्रतिष्ठायेदं सर्वं दधद्विदधदतिष्ठत् यदधद् अतिष्ठत् तस्माद् धाता अर्थात् "दिशाओं में ठहरकर इसने (प्रजापति ने) सबको धारण किया, इसका विधान किया। धारण करने और विधान करने से इसका नाम धाता हुआ।"

सोम- स्वा वै मऽएषेति तस्मास्सोमो नाम। अर्थात् "यह मेरा ही है (स्वा वै मे) इससे सोम हो गया।

सौत्रामणी- 'सौत्रामणी' एक यज्ञ का नाम है। इस शब्द की व्युत्पत्ति सू+त्रैङ् (पालने- रक्षा करना) धातु के साथ मन् प्रत्यय लगाकर सुत्रामन् शब्द बना। सुत्रामन्+अण् = सौत्रामन्+ङीप् = सौत्रामणी । इस प्रकार इस शब्द की व्युत्पत्ति की गयी है।

स्तावा - **'दक्षिणा वै स्तावा। दक्षिणाभिर्हि यज्ञः स्तूयते। अथ यो वै कश्च दक्षिणं ददाति स्तूयत एव**।[३२] 'दक्षिणा का नाम है स्तावा, क्योंकि दक्षिणाओं द्वारा ही यज्ञ की स्तुति होती है। जो कोई दक्षिणा देता है, उसकी स्तुति होती है। इस शब्द की व्युत्पत्ति ष्टुञ् (स्तुतौ - स्तुति करना) धातु के साथ घञ् तथा अप् प्रत्यय लगाकर की गयी है।

स्वाहा - **तं स्वो महिमाभ्युवाद जुहुधीति स प्रजापतिर्विदांचकार स्वो वै मा महिमाहेति स स्वाहेत्येवाजुहोत्तस्माद् स्वाहेत्येवहूयते**।[३३]

---

[३२] शत.ब्रा. ९/४/१/११

[३३] शत.ब्रा. २/२/४/६

'प्रजापति ने जाना कि यह तो मेरी ही (स्व) महिमा है जो कह रही है (आह)। इसलिए उसने 'स्वाहा' कहकर आहुति दे दी। इसलिए 'स्वाहा' कहकर आहुति दी जाती है। यह शब्द स्व+आह से मिलकर बना है। इसकी व्युत्पत्ति ब्रूञ् (व्यक्तायां वाचि-कहना) धातु से हुई है।

स्विष्टकृत् - **'यत्वय्यमुत्र सत्ययक्ष्महि तन्नः स्विष्टं कुर्विति तदेभ्यः स्विष्टमकरोत्तस्मात्स्विष्टकृत इति।'**[३४] '(देवों ने कहा)' जो आहुति हमने तुझ दूर ठहरे हुए को दी, उसे तू हमारे लिए स्विष्ट (हितकर) बना दे। उसने (अग्नि ने) उनके लिए (देवों के लिए) उस आहुति को शुभ कर दिया, इसलिए उसका नाम 'स्विष्टकृत्' हुआ। यह 'अग्नि' का नाम है।

हविर्द्धानम् - **'शिर एवास्य हविर्धानं वैष्णवं देवतयाथ यदस्मिन्सोमो भवति। हविर्वै देवानां सोमः तस्माद्धविर्धानं नाम।''** 'हविर्धान अर्थात् सोम ले जाने वाली गाड़ी ही यज्ञ का सिर है। विष्णु इसका देवता है। क्योंकि इसमें सोम होता है और सोम देवताओं का हवि है, इसलिए इस गाडी को हविर्धान कहते हैं। यह शब्द हविः+ धनि, डुधाञ् (धारणपोषणयोः, रखना) धातु से मिलकर बना है। यास्क ने इसकी निरुक्ति शत.ब्रा. के अनुसार ही की है। वैष्णव हविर्धान का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि जिस प्रकार विष्णु सर्वव्यापक (विष्लृ व्याप्तौ) है, उसी प्रकार यज्ञ भी व्यापक है।

होतृषदनम् - **'होतृषदने उपविशति..... अर्वावसुः वै नाम देवानां होता तस्यैवेतत्सदने सीदति।** "अब वह (अध्वर्यु) होता के आसन पर बैठता है। अर्वावसु (धन न चाहने वाला) देवताओं का होता है। इसलिए यह उसी के आसन पर बैठता है। होतृ के आसन को होतृषदन कहते हैं। यह शब्द होतृ+षदन, षद्लृ धातु (बैठना) से बना है।

निष्कर्ष – शतपथ-ब्राह्मण में वैदिक शब्दों की व्याख्या की निर्वचन पद्धति के विवेचन से यह स्पष्ट है कि शतपथ-ब्राह्मण का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक था। इसमें विपुल शब्द भण्डार विद्यमान है। इसलिए इसमें विभिन्न

---

[३४] शत.ब्रा. १/७/३/९

विषयों जैसे- यज्ञ, ब्रह्मा एवं सृष्टि-निर्माण, देव, ऋषि, राक्षस, वनस्पति एवं पशुवर्ग तथा छन्द इत्यादि से सम्बन्धित निर्वचन किए गए हैं। **'परोक्षकामा हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः'** सूत्र द्वारा बताया गया है कि देवों को परोक्ष बात कहना प्रिय है, प्रत्यक्ष कथन के वे द्वेषी हैं। अतः वर्णों को छिपाकर या व्युत्क्रम क्रम से बोलने की परम्परा है। शतपथ-ब्राह्मण में दिए गए ये सभी निर्वचन मुख्यतः दो प्रकार से किए गए हैं-

(१) **प्रत्यक्षवृत्ति**

(२) **परोक्षवृत्ति।**

शतपथ-ब्राह्मण में ऐसे अनेक निर्वचन हैं। जिन्हें प्रत्यक्षवृत्ति के निर्वचन कह सकते हैं। इनमें किसी शब्द की क्रिया या प्रकृतिभूत धातु उस अर्थ के साथ संगत बैठती है, जिस अर्थ में उस शब्द का प्रयोग होता है जैसे ग्रहः- ग्रह् धातु से, समिध्- सम+इन्ध् धातु से। शतपथ-ब्राह्मण के उक्त निर्वचनों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि क्रियाओं की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने एक-एक शब्द पर विशेष ध्यान दिया है।

शतपथ-ब्राह्मण में से दूसरे प्रकार के निर्वचन वे हैं जिन्हें परोक्षवृत्ति कहा जा सकता है। इन निर्वचनों में **'इत्याचक्षते परोक्षेण', 'परोक्षाप्रिया हि देवाः'**, इत्यादि कहकर किसी शब्द का मूल उस शब्द से भिन्न शब्द को स्वीकार किया गया है और मूल शब्द में वर्ण परिवर्तन से शब्द निष्पन्न होने की कल्पना की गयी है, वर्णपरिवर्तन की यह मान्यता मात्र ध्वनिसाम्य के आधार पर ही दिखायी पड़ती है। यथा -पुरोदाश्- पुरोडाशः, धूर्वा-दूर्वा, इन्ध-इन्द्र, उरुकर-उलूखल।

शतपथ ब्राह्मण में आर्थिक-चिन्तन

डॉ० मनोजकिशोर पन्त[१]

वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थ भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं तथा जीवन के प्रत्येक आयाम एवं परिस्थिति को ब्राह्मण ग्रन्थों में जिस सशक्त रूप में परिभाषित किया गया है, वैसा अन्यत्र कहीं प्रतीति नही होता है।

शतपथ ब्राह्मण में आर्थिक-चिन्तन के वर्णन करने की शृंखला में प्राचीन-काल की आर्थिक प्रणाली को समझना आवश्यक है। पुराकाल में मुख्य रूप से अर्थ प्राप्ति के साधन निम्नवत थे-

(१) कृषि
(२) पशुपालन
(३) शिल्प एवं उद्योग
(४) कराधान
(५) व्यापार

अर्थ प्राप्ति का सर्वाधिक प्राचीन एवं मुख्य साधन कृषि है। भारत की भौगोलिक स्थितियों के आलोक में यहाँ का अर्थोपार्जन मुख्यरूप से कृषि कर्म ही रहा है। जिसमें फसलों के संरक्षण और सुन्दर उपज की प्राप्ति के लिए इन्द्र की वर्षा हेतु स्तुति की गई है[२] एवं खेती करने के साधनों का वर्णन भी वहाँ प्राप्त होता है।[३] वेदों के द्वारा आदेशित किया गया है कि

[१] **सहायकाचार्य, साहित्य-विभाग, उ० सं० वि० वि०, हरिद्वार**

[२] ऋग्वेद १/३२, २/१२, ७/८३

[३] ऋग्वेद, १०/१०१/३

राज्य शासक समुचित फसल की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे।[४]

"**अघ्न्या हि गौः**" परिभाषित करके वेदो ने पशुसंरक्षण एवं गोपालन की ओर संकेत किया है। आर्थिक दृष्टि से समाज में गौ का विशिष्टतम स्थान है तथा जो गोपालन में रत है, वही सुखी व्यक्ति माना जाता था। गाय के दुग्ध की श्रेणी अमृत तुल्य मानी गयी है[५] तथा पशुओं को सर्वोच्च धन के रूप में स्वीकार किया गया है।[६]

शतपथ ब्राह्मण के द्वितीय अध्याय में स्पष्ट किया गया है कि देवों द्वारा पुरुष को पशु बनाकर काम लिया जाता था। फिर शक्ति क्षीणता के पश्चात् अश्व से काम लिया जाता था, तदनन्तर गौ में शक्ति प्रवेश कराकर गौ से काम लिया जाता था। इसी श्रंखला में अन्ततोगत्वा वह शक्ति पृथ्वी में अन्तनिर्हित हो जाती थी।[७]

प्राचीन काल में शिल्प एवं उद्योग इन दोनों विधाओं को कृषि एवं पशुपालन से अधिक राजकीय संरक्षण की आवश्यक्ता होती थी। संरक्षण का तात्पर्य नानाविध सुविधाओं को प्रदान करने से है।[८] वेदभाष्यकार स्वामी दयानन्द ने वेदभाष्य में कहा है कि राज्य उद्योग-व्यवसायों को उन्नत बनाने में योगदान दें।[९]

राज्यों को अपने समस्त क्रियाकलापों को सुचारू रूप से चलाने के लिए धन की आवश्यकता होती ही है। इस धन संग्रहण का महत्त्वपूर्ण एक भाग कराधान से प्राप्त किया जाता था, प्रशासन को अपनी योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए धन संग्रहण करों के माध्यम से कठोरता से प्राप्त करना होता है। ऋग्वेद में भी स्पष्ट वर्णित है कि राजा प्राजाओं से कर ले।[१०]

---

[४] अथर्ववेद, ६/३०/१

[५] अथर्ववेद, ३/१४/३

[६] शतपथ ब्राह्मण, २/१/३

[७] शतपथ ब्राह्मण, २/३/७

[८] ऋग्वेद, ५/३३/७

[९] ऋग्वेद भाष्य, १/११७/२

[१०] ऋग्वेद, १/१५/१

राजा व्यापारियों से कर लेकर उनकी खरीद और बिक्री पर लाभ तथा भरण-पोषण व्यय को ध्यान में रखते थे।[११]

राष्ट्र समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान व्यापार का है। अथर्ववेद के वणिक् सूक्त में स्पष्ट किया गया है कि इन्द्र (सम्राट्) राजा को ही सबसे बडा व्यापारी मानते हुए उससे प्रार्थना की गई है कि वही हमारा नेता बने।[१२]

व्यापार मात्र वणिक् जाति के लिए ही नहीं अपितु समस्त राज्य के लिए धन प्राप्ति हेतु एक प्रमुख साधन है, जिसमें रस, मिश्रधातु, महारस, उपरस, रत्न आदि के प्रमुख व्यापार सम्मिलित हैं। साथ ही खानों, सागरों से प्राप्त होने वाले रत्न, सीसा, तांबा, मोती, सीप, प्रवाल, शंख तथा नमक आदि तैयार करने सम्बन्धी कार्य राज्य के ही हैं।

सभी प्रकार के व्यापार विदेशी अथवा अन्तर्देशीय को राजकीय संरक्षण की आवशयकता रहती है, तथा किस सामग्री का आयात तथा निर्यात कितना हो यह तय करना भी राज्य दायित्व ही है, जो भी सामग्री आयात की गयी है, उस आयातित वस्तु का राज्य के उद्योगों एवं व्यापार प्रणाली पर किसी भी प्रकार का दुष्परिणाम न होने पाये तथा असंवैधानिक सामग्रियों का आयात किसी भी रूप में न हो, यह निगरानी करना राज्य का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

[११] मनु०, ७/१२७

[१२] अथर्ववेद, वणिक् सूक्त- ३/१५

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञरूपी बालक का स्वरूप

डॉ० विपिन बालियान[१]

ब्राह्मण ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्वशाली विपुलकाय तथा यागानुष्ठान का सर्वोत्तम प्रतिपादक ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण ही है। शुक्ल यजुर्वेद की उभय शाखाओं- माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाओं पर यह उपलब्ध होता है। विषय की एकता होने पर भी उसके वर्णन क्रम तथा अध्यायों की संख्या में अन्तर पड़ता है। माध्यन्दिन शतपथ में काण्ड़ों की संख्या १४, अध्याय १००, प्रपाठक ६८, ब्राह्मण ४३८ तथा कण्डिका ७६२४ हैं। काण्व शतपथ में प्रपाठक नामक उपखण्ड़ का अभाव है तथा काण्डों की संख्या १७, अध्याय १०४, ब्राह्मण ४३५, तथा कण्डिका ६८०६ हैं। माध्यान्दिन शतपथ में प्रथम काण्ड से आरम्भ कर नवम काण्ड तक पिण्ड पितृयज्ञ को छोड़कर सभी विषयों का क्रम माध्यान्दिन संहिता के अनुसार ही है।[२]

शतपथ ब्राह्मण की महत्ता इस घटना से है कि वह विभिन्न प्रकार के यज्ञयागों का बड़ा ही सांगोपांग तथा पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है जो अन्य ब्राह्मणों में दुर्लभ है अथवा मात्रा में अत्यधिक न्यून है। यज्ञ का आरम्भ वैदिक युग के आरम्भ काल से ही है। पहले यज्ञ का विधान संक्षेप में ही

---

[१] **तदर्थ फैकल्टी, दर्शनशास्त्र विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

[२] शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ आलोचना, पृ०-१ अनुवादक आचार्य वीरेन्द्र मुनि शास्त्री

होता था, परन्तु कालान्तर में यज्ञ संस्था बहुत ही विस्तृत बन गई। ब्राह्मण युग यज्ञ संस्था के विकास का युग है, जिसका परिचय हमें विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों से प्राप्त होता है। अपने वर्ण्य विषयों के विस्तार, विचार तथा विवरण के कारण शतपथ ब्राह्मण, ब्राह्मण-ग्रन्थों का मुकुटमणि माना जाता है।[३]

यज्ञ कर्म के भीतर नाना कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है और वह एक विशिष्ट कर्म से संपन्न होता है। शतपथ ब्राह्मण में प्रत्येक पदार्थ की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए बड़ी ही उदात्त और प्रांजल व्याख्या की गई है। तथ्य यह है कि भौतिकयाग एक प्रतीकात्मक व्यापार है। अन्तर्याग और बहिर्याग में पूर्ण सांमजस्य तथा आनुरूप्य है। भौतिक रथ को ले चलने के लिए जैसे दो अश्वों की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार यज्ञचक्र को खींचने के लिए मन और वाक् की आवश्यकता होती है। मन किसी वस्तु का प्रथमतः संकल्प करता है, तब वाक् वचन व्यापार के द्वारा उसका प्रतिपादन करती है। मनो-वाक् के संयोग हुए बिना किसी भी कर्म का, विशेषतः यज्ञ जैसे आध्यात्मिक कर्म का यथार्थ संपादन संभव नहीं है। इसी दृष्टि से दोनों आहुतियों की निष्पत्ति क्रमशः मन-स्रुव तथा वाक्-स्रुक नामक पात्रों के द्वारा दी जाती है।[४]

शतपथ की विशिष्टता और प्राचीनता के बाद यह प्रश्न उठता है क्या संहिता और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं? क्योंकि संपूर्ण आर्ष जगत् में संहिता और ब्राह्मण दोनों को वेद नाम से जाना जाता है। वास्तव में संहिता और ब्राह्मण दोनों को वेद नाम दिया गया है किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं कहलाते, केवल संहिता भाग ही वेद कहलाते हैं। जैसे राम के वंश में उत्पन्न हुए लोगों को उपचार से राम कह दिया जाता है। वैसे ही वेद से संबंधित होने के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद कह दिया जाता है। यदि ब्राह्मण ग्रन्थ

---

[३] शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ आलोचना, पृ०-२ अनुवादक आचार्य वीरेन्द्र मुनि शास्त्री

[४] शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ आलोचना, पृ०-६ अनुवादक आचार्य वीरेन्द्र मुनि शास्त्री

भी वेद होते तो "**मन्त्रब्राह्मणात्मकयोर्वेदनामधेयम्**" यह न कहा जाता।[५] चूंकि मन्त्र और ब्राह्मण दो पृथक-पृथक् शब्द हैं इसलिए दोनों पृथक् ही माने जाने चाहिए। महर्षि जैमिनि के अनुसार – वेद के मन्त्रावशिष्ट अंश ब्राह्मण हैं "**शेषे ब्राह्मणशब्दः**"[६]।

वैदिक वाङ्मय में संहिताओं के पश्चात् जिन ग्रन्थों का स्थान है, वे हैं '**ब्राह्मण**'। ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द नपुंसक ही होता है। "**ब्राह्मणं ब्रह्म संघाते वेदभागे नपुंसकम्**"[७] तैत्तिरीय संहिता में इसका सबसे प्राचीन प्रयोग मिलता है –**एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवीषिं।**[८] आचार्य यास्क ने "**बहुभक्तिवादिनि ब्राह्मणानि भवन्ति**"[९] वाक्य में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग नपुंसक लिंग में ही किया है। इसी प्रकार महर्षि दयानन्द ने "**ब्रह्माणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणं**"[१०] लिखकर इसी बात की पुष्टि की है।

ब्राह्मण ग्रन्थों को ब्राह्मण क्यों कहा गया है? इसके लिए अनेक विचार हैं। जिनमें सर्वप्रथम भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय संहिता - भाष्य में कहा है कि "**ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः**"। ब्राह्मण नाम कर्म का है तथा तत्प्रतिपादक मन्त्रों का व्याख्यान होने से इन ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण पड़ा।[११] भगवान् व्यास के वेदान्त दर्शन का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। जिसके प्रथम सूत्र में ब्रह्म की जिज्ञासा है और दूसरे सूत्र में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए कहा है - '**जन्माद्यस्य यतः**'[१२] अर्थात् जिससे जगत्

---

[५] आपस्तम्ब यज्ञ परिभाषा सूत्र– १/३३

[६] जैमिनी सूत्र – २/१/३३

[७] मेदिनी कोष

[८] तैत्तिरीय संहिता ३/७/१/१

[९] निरूक्त ७/२४

[१०] अनुभ्रमोच्छेदन पृ०-६ , बनारस, संस्करण-१९३७

[११] तैत्तिरीय संहिता १/५/१

[१२] वेदान्त दर्शन १/२

की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय हो वह ब्रह्म है। अतः जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्त्ता ब्रह्म का व्याख्यान होने से शतपथादि ग्रन्थों का ब्राह्मण नाम पड़ा। सत्यार्थ प्रकाश के अनुसार "ब्रह्म जो वेद उसका व्याख्यान होने से ब्राह्मण नाम पड़ा"।[१३] **द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत।**[१४] दो ब्रह्म जानने योग्य हैं। एक शब्द ब्रह्म दूसरा परब्रह्मा। शब्द ब्रह्म से अभिप्राय है – ज्ञानराशि। वेद और परब्रह्म से अभिप्राय है सर्वोपरि चेतन सत्ता ईश्वर। अतः वेद और ईश्वर का व्याख्यान होने से इन शतपथादि ग्रन्थों का ब्राह्मण नाम हुआ।

कर्म की पराकाष्ठा यज्ञ है, "**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**" "**यज्ञो वै ब्रह्मं**"।[१५] अतः यज्ञरूप ब्रह्म का व्याख्यान होने से भी इन शतपथादि ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण पड़ा।

शतपथ संज्ञा - शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण का नाम शतपथ किस कारण पड़ा? यह विषय विचारणीय है। इस प्रश्न का सामान्यरूप से उत्तर यह है कि शतपथ ब्राह्मण के अध्यायों का विभाजन सौ अध्यायों में होने के कारण शतपथ ब्राह्मण नाम पड़ा। शतपथ ब्राह्मण को माध्यन्दिन ब्राह्मण के नाम से भी जानते हैं। शतपथ शब्द दो शब्दों के मेल से बना है एक शत दूसरा पथ। शत का अर्थ बहु[१६] की ओर संकेत करता है और पथ वेदार्थ प्रवेश की ओर संकेत करता है। इसलिए इस ब्राह्मण को शतपथ कहें चाहे बहुपथ कहें बात एक ही है। हमारे इस कथन की पुष्टि यास्काचार्य के मत से भी होती है- "**तद्यथा बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति**"।[१७]

बालकरूपी यज्ञ निर्माण हेतु उचित सामग्री संग्रह हमारे शोध का

---

[१३] सप्तम समुल्लास, पृ०-३१७, रामलाल कपूर ट्रस्ट, १९७५

[१४] महाभारत – १२/२२४/६०

[१५] शतपथ ब्राह्मण २/१/४/१०

[१६] शतमिति बहुनामसुपठितम्। निघण्टु ३

[१७] निरूक्त ७/२४

उद्देश्य है। जिस प्रकार अग्न्याधान के लिए सर्वप्रथम सामग्री संग्रह की व्यवस्था करते हैं,[१८] उसी प्रकार बालक के मस्तिष्क का निर्माण करने के लिए सर्वप्रथम यशस्वी विद्वान् गुरु की खोज करते हैं, जो कि बालक को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, वैद्य, व्याकरणाचार्य, दार्शनिक आदि उसकी स्वभाविक बुद्धि के अनुसार बना सके।[१९] इसलिए माता-पिता और कुलगुरु पुरोहित का कर्त्तव्य अर्थात् धर्म है कि उसका मानसिक और शारीरिक स्तर तपस्या के लिए तैयार करे।[२०] बालक को श्रेष्ठ आचार्य के पास भेजने से पूर्व तीन प्रकार की सामग्री रूपी उपदेश का संग्रह करवाये जो कि यशः, पशु और मिथुन के नाम से जानी जाती है।[२१]

१. बालक को पहले से सूचित करते रहें कि तुझे किस यशस्वी आचार्य के पास जाना है? इसे यशः सम्भार कहते हैं।

२. उसके अन्दर संकल्प शक्ति उत्पन्न करते रहें। इस प्रकार प्रतिकूल प्रवृत्तियों को दूर करना तथा अनुकूल प्रवृत्तियों को पैदा करना पशु सम्भार।[२२]

३. शरीर तथा मन से धीरे-धीरे ऐसी तपस्या करानी, जिससे उसकी क्षमता संकल्प का साथ दे।[२३] यह मिथुन सम्भार कहलाता है। जिस प्रकार यज्ञ के लिए यज्ञ स्थान वेदि को स्वच्छ करते हैं। उसकी जमी हुई गन्दगी को दूर करते हैं। उसके बाद अग्न्याधान करते हैं।[२४] उसी प्रकार बालक रूपी

---

[१८] शतपथ ब्राह्मण २/१/१/१

[१९] शतपथ ब्राह्मण (बुद्धदेव विद्यालंकार) पृ०-१

[२०] शतपथ ब्राह्मण (बुद्धदेव विद्यालंकार) पृ०-२

[२१] शतपथ ब्राह्मण (बुद्धदेव विद्यालंकार) पृ०-२

[२२] शतपथ ब्राह्मण (बुद्धदेव विद्यालंकार) पृ०-२

[२३] शतपथ ब्राह्मण (बुद्धदेव विद्यालंकार) पृ०-२

[२४] शतपथ ब्राह्मण – २/१/१/२१

यज्ञवेदि की सभी कुचेष्टाओं को हटावें। अर्थात् बुरी आदतों को सुधारें।[२५] यज्ञस्थान को स्वच्छ करने के पश्चात् जल का छिड़काव करें क्योंकि जल अन्न समृद्धि का कर्त्ता है।[२६] जल को स्त्री का रूप बताया है और अग्नि को पुरुष का रूप बताया है। जिस प्रकार दोनों के संयोग से प्रजनन क्रिया होती है[२७] उसी प्रकार बालक के दुर्गुणों को दूर करने के पश्चात् प्रेमरूपी पोछा फेरना चाहिए जिससे बालक घबराहट महसूस न करे। इसलिए बालक को पुचकारना भी आवश्यक है।[२८]

उसके पश्चात् जल से प्रेमपूर्वक व्यवहार करें, जिससे दोनों का समागम हुआ। इसलिए अग्नि को वीर्ययुक्त करके अग्न्याधान किया जाता है।[२९] इसका तात्पर्य यह है कि उत्तम कार्य के लिए बालक भी उत्तम चुनना तथा गुरु भी यशस्वी चुनना चाहिए। जिससे बालक के हृदय में गुणगान से अनुराग पैदा हो सके। जिस प्रकार अग्नि जल में गर्भाधान करके स्वर्ण उत्पन्न करती है। उसी प्रकार योग्य बालक में स्वर्ण के समान मूल्यवान् चमकदार निधि उत्पन्न कर सके।[३०]

जिस प्रकार द्यौ ने पृथ्वी यज्ञवेदि के निर्माण के लिए समृद्ध की, जो कि द्यावा पृथ्वी के रस के रूप में समृद्धि को प्राप्त हुई। वह ऊषर भूमि पशुओं के लिए होती है। जहाँ पशु स्वभाविक रूप से निवास करते हैं।[३१] उसी प्रकार पशु स्वरूप मनुष्य की अवस्था होती है। उसके पश्चात् शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि जिस प्रकार चूहे पृथ्वी को खोद कर रस का आस्वादन

---

[२५] शतपथ ब्राह्मण (बुद्धदेव विद्यालंकार) पृ०-२

[२६] शतपथ – २/१/१/३१

[२७] शतपथ ब्राह्मण – २/१/१/४

[२८] शतपथ ब्राह्मण (बुद्धदेव विद्यालंकार) पृ०-३

[२९] शतपथ ब्राह्मण – २/१/१/५

[३०] शतपथ ब्राह्मण (बुद्धदेव विद्यालंकार) पृ०- ४

[३१] शतपथ ब्राह्मण – २/१/१/६

करते हैं और समृद्ध हो जाते हैं,[३२] उसी प्रकार पुरोहित को बड़े विद्वानों को बालक के निर्माण के लिए संग्रह करना चाहिए जो अपनी खोज द्वारा खोदकर निकाली गई ज्ञानरूपी रत्नमाला को देते रहें।[३३] उसके पश्चात् शर्करा का संग्रह करते हैं। शर्करा नामक मिट्टी वेदि के निर्माण हेतु अच्छी होती है। उसी प्रकार अच्छे संकल्प से बालक का निर्माण होता है।[३४] शतपथ ब्राह्मण कहता है कि उसके पश्चात् देवता पृथ्वी को स्थिर करके अग्न्याधान करते हैं।[३५] भाव यह है कि जो पौष्टिक भोजन आदि स्थूल साधन हैं। वे सब शर्करा कहलाते हैं। उसके पश्चात् तम्बू आदि खूँटे गाड़कर पृथ्वी को शर्कराओं द्वारा स्थिर करके अग्न्याधान करते हैं। इसी प्रकार बालक में स्थिरता प्रदान करके व्रत धारण करवाते हैं।[३६] आज भी वही प्रक्रिया की जाती है। शर्करा का संभरण किया जाता है।[३७] जिस प्रकार यज्ञ के पाँच अंग होते हैं। उसी प्रकार संवत्सर रूप यज्ञ के पाँच अंग हैं – उत्तम पात्र, यशस्वी नेता, आज्ञापालक कार्यकर्त्ता, विशेषज्ञ परामर्शदाता, अन्नादि उपादान।[३८] संवत्सर में पाँच ऋतु मानी गई हैं, जबकि ऋतुएँ छः होती हैं। यहाँ पर हेमन्त-शिशिर को इकट्ठा माना गया है। पाँच संख्या जोड़े में एक कम होने के कारण नियम की सूचना देती है। छठा अग्नि को मान लेना चाहिए। अग्नि उन सब की कमियों को पूरा कर सकती है।[३९] शतपथ ब्राह्मण में द्वितीय काण्ड के प्रथमाध्याय के प्रथम ब्राह्मण के अन्त में कहा गया है कि संग्रह की विशेष आवश्यकता नहीं। पृथ्वी में सब सम्भार पहले ही

---

[३२] शतपथ ब्राह्मण – २/१/१/७

[३३] शतपथ ब्राह्मण (बुद्धदेव विद्यालंकार) पृ०-६

[३४] शतपथ ब्राह्मण – २/१/१/८

[३५] शतपथ ब्राह्मण – २/१/१/९

[३६] शतपथ ब्राह्मण – २/१/१/१०

[३७] शतपथ ब्राह्मण – २/१/१/११

[३८] शतपथ ब्राह्मण – २/१/१/१२

[३९] शतपथ ब्राह्मण (बुद्धदेव विद्यालंकार) पृ०-८

विद्यमान हैं। जहाँ उन्नति की पढ़ने-लिखने की सच्ची इच्छा होगी, भूमि उत्तम होगी, वहाँ स्वयं व्यवस्था हो जायेगी। परन्तु यह मत अनुचित है क्योंकि केवल इच्छा से सभी कार्य नहीं हो सकते। जहाँ सामग्री सम्पन्नता होगी, वहीं संकल्प पूर्ण होंगे। इसलिए अग्नि और सामग्री दोनों का होना सबसे उत्तम है। इसलिए अग्नि केवल अंग की पूर्ति कर सकती है।[४०] इसलिए बालक के निर्माण हेतु पुरोहित दार्शनिक स्वरूप से मस्तिष्क में अग्न्याधान करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त कथनों से निम्न प्रकार निष्कर्ष निकलता है– बालक की कुचेष्टाओं को दूर करना। उसे सांत्वना देना तथा प्रोत्साहित करना, भावीगुरु के लिए उसका यश सुनाकर श्रद्धा उत्पन्न करना। संकल्प शक्ति के लिए प्रेरित करना, अपनी सहायतार्थ विशेषज्ञों का संग्रह करना।[४१] उपर्युक्त तथ्यों से प्रमाणित होता है कि शतपथ ब्राह्मण में यज्ञरूपी बालक के निर्माण का स्वरूप दर्शाया गया है।

---

[४०] शतपथ ब्राह्मण – २/१/१/१४

[४१] शतपथ ब्राह्मण (बुद्धदेव विद्यालंकार) पृ०-९

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ व यज्ञाङ्ग

डॉ० अरुणिमा रानी[१]

वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों को ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद का व्याख्यान ग्रन्थ है। इसके प्रवचनकर्ता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। इसमें कर्मकाण्ड व वेदार्थ का विषय वर्णित है। इसकी व्याख्यान शैली प्रतीकात्मक है। शतपथ ब्राह्मण को समझने के लिए प्रतीक और प्रत्यायनीय को जानना आवश्यक है। प्रतीकों का आधार कहीं गुणों का सादृश्य होता है, तो कहीं उपमान-उपमेय भाव होता है। कहीं रूपक के माध्यम से प्रतीक को जानना पड़ता है तो कहीं लक्षणा और व्यंजना से प्रतीक स्पष्ट हो जाते है। कहीं-कहीं प्रतीक की आत्मा को, भावना को पहचानना होता है।

माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ सम्बन्धित प्रतीकात्मक वचन भरपूर हैं जिनके माध्यम से यज्ञ के सच्चे स्वरूप को समझा जा सकता है। यज्ञ के कुछ प्रतीक निम्नांकित हैः-

वाग्वै यज्ञः[२] - वाणी ही यज्ञ है। वाक् संयम यज्ञ है। असंयत वाणी विनाश है। '**यज्ञो वै स्वाहाकारः**'[३] स्वाहाकार ही यज्ञ है। सु आह- प्रियवचन, मधुर वचन, कल्याणकारक वचन यज्ञ है। स्वा वाग् आह- जैसा हृदय में हो, वैसा कहना, सत्यभाषण करना यज्ञ है। स्वं प्राह- अपने पदार्थ को अपना कहना, दूसरों के पदार्थ-ग्रहण की इच्छा न करना यज्ञ है।

---

१ उपाचार्या, संस्कृतविभाग, एस०डी० महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर

२ माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण १/१/२/२

३ यजुर्वेद १/७

अविक्षुब्ध क्षोभरहित मन से लोकोपकार करना यज्ञ है।[४] '**यज्ञो वै वाक् सैषा धर्मदुघा**'[५] धर्मदोहन करने वाली वाणी यज्ञ है। '**यज्ञो वै वाक्। एष वै गोपाः य एष तपति**'[६] वाक् और यज्ञ दोनों परस्पर उपकारक है। यज्ञ गोपाल वाणी का रक्षक है। यज्ञ से, लोकोपकार भावना से तपः पूत वाणी ही यज्ञ है।

विराड् वै यज्ञः[७] - वह सर्वप्रकाशक प्रभु यज्ञ है। वह पूर्ण पुरुष यज्ञ है। विराट् छन्द में दश अक्षर होते हैं। दश संख्या पूर्णता का प्रतीक है। '**विशेषेण राजते इति विराट्**' परोपकरमय यज्ञ कर्म सर्वहितकारी होने से विराट् हैं, असीम हैं, अनन्त फल देने वाले हैं। यज्ञ पूर्ण है और अनन्त फल देने वाला है। '**यज्ञो वै विष्णुः**'[८] यज्ञ ही विष्णु है। सर्वव्यापकत्व हेतु से वह परमेश्वर विष्णु कहाता है। यज्ञ भी परम पुरूष की भांति सर्वत्र व्यापक है। '**पुरुषो वै यज्ञः**'[९] वह परम पुरूष परमेश्वर ही यज्ञ है। '**यज्ञ एव प्रजापतिः**'[१०] प्रजापति परमेश्वर के समान यज्ञ भी प्रजा पालक है, यज्ञ प्रजा रक्षक है। यज्ञरूप परमेश्वर ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रक्षक है। '**एष वै प्रजापतिः। य एष यज्ञः।**'[११] मानो यज्ञ ही प्रजापति है और प्रजापति ही यज्ञ है। सादृश्यातिशय से यज्ञ सर्वोपकारक है। '**पुरुषो यज्ञः। षोडशकलो वै पुरुषः। एतत् षोडशावयवात्मकं खलु शरीरम्। अष्टौ प्राणाः अष्टावांगानिः।**'[१२] पुरुष शब्द से पूर्ण पुरुष परमेश्वर व शरीरधारीजीवरूप पुरुष दोनों का ग्रहण होता है। यहाँ षोडश कला सम्पूर्ण शरीरधारी जीवरूप

---

[४] अविक्षुब्धो यज्ञं तनव इति। यजुर्वेद १/७

[५] मा.श०. - १४/२/१/१५

[६] मा०.श०. - १४/१/४/९

[७] मा०.श०. - १४/१/३/१

[८] मा०.श०. - १/१/२/१३

[९] मा०.श०. - १/३/२/१

[१०] मा०.श०. - १/७/४/४

[११] मा०.श०. - ४/५/५/१

[१२] मा०.श०. - ११/१/७/३६

पुरुष का ग्रहण है। वह पुरुष जो सोलह कला सम्पूर्ण है वह भी यज्ञ है। पुरुष की सोलह कला के सादृश्य से यज्ञ में भी सोलह आहुति दी जाती हैं।

''**पाङ्क्तो वै यज्ञः**''[१३] यज्ञ पाङ्क्त है। जैसे पाँचों अंगुलियों से सभी कर्म सम्पन्न होते हैं उसी प्रकार यज्ञ भी सभी सुखों को सम्पन्न करने वाला है। पंचविध हवियों (भुने हुए धान यव घृतसंयुक्त सक्तु करम्भ, व्रीहि से बनी खीलें परिवाय, पिष्ट वस्तु पुरोडाश और दुग्धनिर्मित पदार्थ पयस्या)[१४] के कारण यज्ञ पाङ्क्त है। पंचव्याहृति के कारक यज्ञ पाङ्क्त है। चार ऋत्विज् तथा एक यजमान मिलकर यज्ञ करते हैं इसलिये भी यज्ञ पाङ्क्त है। पञ्चमहायज्ञों से ही विश्वकल्याण सम्भव है। **अध्वरो वै यज्ञः**[१५] - हिंसाराहित्य ही यज्ञ है। जिसमें परपीड़ा न हो, हिंसा न हो- वह यज्ञ है। '**सौम्योऽध्वर एष वै शतदक्षिणः। एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः।**'[१६] अहिंसक यज्ञ सौम्य है, शतदक्षिण - बहूपकारक, बहुसमृद्धिकारक है। यह जो अध्वर अहिंसक यज्ञ है यही प्रजापति है। **अध्वरो वै यज्ञः। यज्ञो वै सुम्नम्**'[१७] अहिंसक यज्ञ ही सर्वसुखकारी है। '**यज्ञो वै महिमा**'[१८] अहिंसक यज्ञ ही महिमावान् है। '**यज्ञो वै आश्रवणम्**'[१९] अहिंसक यज्ञ ही सर्वत्र श्रूयमाण है, सबके द्वारा ग्राह्य है। '**यज्ञो वै मधु ताय्यम्। यज्ञेन वै देवा इमां जितिं जिग्युः।**'[२०] अहिंसक यज्ञ मधुर रस का संचारक है। माधुर्य-विस्तारक

---

[१३] मा०.श०. - १/७/२/८

[१४] धानाकरम्भादि पंच हविष्कत्वात् धानाः। मा०.श०. - १/१/२/१६

भ्राष्ट्रा धाना यवाः। आज्यसंयुक्ताः सत्तवः करम्भः। व्रीहिजन्या लाजाः परिवायाः।

पिष्टविकारः पुरोडाशः। क्षीरविकारःपयस्या। तैत्तिरीय संहिता १/४/२८

[१५] मा०.श०. - १/२/४/५, ३/९/३/५, ३/९/२/११

[१६] मा०.श०. - ४/३/४/३

[१७] मा०.श०. - ७/३/१/३३

[१८] मा०.शा०. - ६/३/१/१८

[१९] मा०.शा०. - १/५/१/१

[२०] मा०.शा०. - ३/४/३/१४

है। '**यज्ञस्य सपत्नोऽभिमातिः**'[२१] इसी अहिंसक यज्ञ से शत्रुभाव नष्ट किया जा सकता है। '**वय एव हि यज्ञः**'[२२] यज्ञ पूर्णायु देने हारा है। '**यज्ञो वै वसुः**'[२३] यज्ञ सकल वसुओं का प्रदाता है। यज्ञ के द्वारा आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण, ब्रह्म तेज आदि की प्राप्ति होती है। '**यज्ञमुखं वै वसवः**'[२४] यज्ञ के मुख में ही वसुओं का वास है। '**ध्रुवग्रहः यज्ञस्य प्राणः**'[२५] अटल ध्रुवग्रह यज्ञ का प्राण है। यज्ञ के प्राणस्वरूप दो ग्रहों का वर्णन है - ध्रुव और वैश्वानर। '**योऽयं पुरस्ताद् स वै वैश्वानर एव। अथ योऽयं पश्चात् स ध्रुवः।**'[२६] जो मुखनासिका से अभिव्यक्त होता है, वह वैश्वानर प्राण है। जो मूलाधार में स्थित है - वह ध्रुव प्राण है। ध्रुवग्रह अटल सिद्धान्तों का प्रतीक है।

'**अश्वमेधः यज्ञः**' अश्वमेध शब्द को स्पष्ट करने के लिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने अनेक प्रतीक दिए हैं। '**राष्ट्रं वा अश्वमेधः**'[२७], '**यजमानो वा अश्वमेधः**[२८], '**आदित्योऽश्वमेधः**'[२९], '**एष वाऽश्वमेधो य एष सूर्यः तपति**'[३०], '**एष वाऽश्वमेधो यच्चन्द्रमाः**'[३१]। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, अग्निहोत्रादि यज्ञ, वृषभ, राष्ट्र, श्री इत्यादि इन सभी के कर्म लोकोपकारक हैं। ऐसे ही अश्वमेध यज्ञ

---

[२१] मा०.शा०. - ३/९/४/९

[२२] मा०.शा०. - ४/१/२/२५

[२३] मा०.शा०. - १/७/१/९

[२४] काठक संहिता - २१/१

[२५] मा०.शा०. - ४/२/४१

[२६] सायण भाष्य ४/२/४/१, मा०.शा०.

[२७] मा०.शा०. - १३/२/२/१६

[२८] मा०.शा०. - १३/२/२/१

[२९] मा०.शा०. - ९/४/२/१८

[३०] मा०.शा०. - १०/६/५/८

[३१] मा०.शा०. - ११/२/५/१

भी लोकोपकारक है। सम्पूर्ण सृष्टि अश्वमेध यज्ञ कर रही है। परस्पर लोकोपकार की भावना ही अश्वमेध यज्ञ है।

यज्ञ के स्वरूप को जानने के पश्चात् अब यज्ञ में प्रयुक्त साधन सामग्री के लिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने किस साधन-सामग्री को क्या भूमिका प्रदान की है? यह द्रष्टव्य है। मानो सूत्रधार द्वारा नाटक का नाम व विषयवस्तु बता दी गई हो और कौन-कौन पात्र किस भूमिका वाला है? यह ज्ञातव्य है। सर्वप्रथम यज्ञ के मूल कारण अग्नि पर विचार करते हैं।

'**अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य**'[३२] यज्ञ (अग्निहोत्र) का मूल कारण अग्नि है। '**यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे**' के अनुसार यज्ञ (लोकोपकारक शुभकर्म) का मूल कारण संकल्पाग्नि है। '**अग्निर्वै वसुवनिः**'[३३] सभी धनैश्वर्यों का प्रदाता होने से अग्नि वसुवनि है। अग्नि में ही सुगन्धित पौष्टिक, मिष्ट, रोगनाशक, पुरोडाशादि हविद्रव्यों की आहुति दी जाती है। अतः यह वसुधेय है। दुर्लभ पदार्थों की प्राप्ति कराने से अग्नि वसुवनि है। अग्नि देवों का मुख है '**अग्निर्वै देवानां मुखम्**'[३४] '**अग्निर्वै सर्वा देवताः। अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति।**'[३५] अग्नि ही सब देवता है। अग्नि में ही सब देवताओं के लिए हवि दी जाती है।

यज्ञ में अग्नि के साथ चार पात्र और हैं। वे हैं - अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा। यज्ञ को सम्पन्न कराने में इन चारों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इन चारों में प्रथम अध्वर्यु है। '**अश्विनावध्वर्यु**'[३६] यज्ञ में अध्वर्यु को 'अश्विनौ' की संज्ञा दी गई है। अध्वर्यु महावैद्य है। इसकी देखरेख में ही यज्ञ की समस्त रोगकीटाणुनाशक जड़ी बूटियों से सामग्री तैयार की जाती है। अश्विनौ वैद्यराज का द्योतक है। अध्वर्यु की स्थिति प्रतीची दिशा में होती

---

[३२] मा०.शा०. - १/५/२/११

[३३] मा०.शा०. - १/८/२/१६

[३४] मा०.शा०. - ३/९/१/१६

[३५] मा०.शा०. - ५/२/३/१६

[३६] मा०.शा०. - १/१/२/१७

है '**प्रतीच्यध्वर्योः दिक्**'।[३७] '**प्राणापानावेवाध्वर्यु**'[३८] प्राण जीवन प्रदाता है। अपान क्लेश विनाशक है। अध्वर्यु यजमान के लिए प्राण और अपान के सदृश है। '**मनो वा अध्वर्युः**'[३९] जैसे कर्म क्षेत्र में मन सम्राट् है इसी प्रकार अध्वर्यु यजमान के मनोविज्ञान को जानकर उसकी सभी कामनाओं का साधक होता है। '**प्राची दिग् होताः**'[४०] होता प्राची दिशा में बैठता है। अग्नि, अध्यापक, विद्वान् उपदेशक, न्यायाधीश, यज्ञनिष्पादक होता, वाणी, मन, प्राण, हेमन्त, प्राची दिक् ये सभी होता हैं। '**अग्निर्वै होता**'[४१] अग्निहोता है क्योंकि वह दाता, ग्रहीता आदाता है। '**वाग्वै यज्ञस्य होता**'[४२] वाणी होता है। '**हेमन्तो होता**'[४३] हेमन्त ऋतु होता है। '**प्राणो वै होता हिरण्यम्**'[४४] प्राण होता है। '**क्षत्रं वै स्विष्टकृद् होता**'[४५] स्विष्टकृत् क्षत्रिय होता है क्योंकि वह प्रजा से उसकी राशि का छठा भाग ग्रहण कर विविध जीवनोपयोगी साधन जुटाता है। ग्रहीता भी है और प्रदाता भी है - यही होता का लक्षण है।

'उद्गाता' - यज्ञ में सामगान करने वाला महापण्डित उद्गाता कहलाता है। '**प्रजापतिर्वा उद्गाता**'[४६] वह परम प्रभु वेदवाणी के माध्यम से यज्ञिय, रहस्यों का उपदेशक होने से उद्गाता है। '**पर्जन्यो वा उद्गाता**'[४७] सृष्टियज्ञ में पर्जन्य उद्गाता है। '**वर्षा उद्गाता तस्माद्यदा बलवद् वर्षति साम्न इवोपब्दिः**

[३७] मा०.शा०. - १३/५/४/२४

[३८] मा०.शा०. - ५/५/१/११

[३९] मा०.शा०. - १/५/१/२१

[४०] मा०.शा०. - १३/५/४/२४

[४१] मा०.शा०. - १/४/१/२४

[४२] मा०.शा०. - १२/८/२/३

[४३] मा०.शा०. - ११/२/७/३२

[४४] मा०.शा०. - ७/५/२/८

[४५] मा०.शा०. - १२/८/३/१९

[४६] मा०.शा०. - ४/३/२/३

[४७] मा०.शा०. - १२/१/१/३

क्रियते'[४८] जब आकाश से मूसलाधार वर्षा गिरती है तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे उद्गाता सामगान कर रहा हो। बलपूर्वक जलवृष्टि साम घोष का प्रतीक है।

ब्रह्मा- 'ब्रह्मा यज्ञ का संचालक है। '**ब्रह्मा हि ऋत्विजां भिषक्तमः।**'[४९] यज्ञ के सभी ऋत्विजों का दोषसुधारक होने से ब्रह्मा वैद्यराज है। वेद, ब्राह्मण, अन्न, धन, वेदचतुष्टय, ब्रह्माण्ड ब्रह्मवित्, परमेश्वर, सत्यज्ञान, ब्रह्मणस्पति, विद्युत्, प्राणापान वाणी मन इत्यादि अर्थों में ब्रह्मा शब्द का प्रयोग वेदभाष्यों व शतपथब्राह्मण में प्राप्त होता है। इन्हीं विशेष गुणों के कारण यज्ञ के संचालक ऋत्विज् को ब्रह्मा कहा जाता है। '**तस्मादाहुर्ब्राह्मैव देवानां श्रेष्ठमिति।**[५०] **तस्यैव वाचः सत्यमेव ब्रह्म।**[५१] **ब्रह्म वै ब्राह्मणः।**[५२] **हृदयं वै यज्ञस्य ब्रह्मा।**[५३] **अयमग्निर्ब्रह्म।**[५४] इत्यादि अनेक अर्थों का प्रतीक ब्रह्मा है।

यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली अग्नि व चार ऋत्विजों के पश्चात् मेध, हवि, पुरोडाश चरु - इन शब्दों के स्वरूप पर दृष्टिपात किया जाता है।

मेधः - '**मेधो वै पयः**'[५५] पय दुग्ध मेध है। '**मेधस्तण्डुलाः**'[५६] तण्डुल मेध है। '**मेध्या वै दर्भाः**'[५७] दर्भ मेध है। '**मेदो वै मेधः**'[५८] मेदस् मेध है।

---

[४८] मा०.शा०. - १२/२/७/३२

[४९] मा०.शा०. - १/७/४/१९

[५०] मा०.शा०. - ८/४/१/३

[५१] मा०.शा०. - २/१/४/१०

[५२] मा०.शा०. - ५/१/५/२

[५३] मा०.शा०. - १२/८/२/२३

[५४] मा०.शा०. - ९/२/१/१५

[५५] मा०.शा०. - २/५/३/४

[५६] मा०.शा०. - २/५/३/४

[५७] मा०.शा०. - ३/१/३/१८

‘**मेधो वा आज्यम्**’[५९] आज्य मेध है। ‘**लोकेषु यदन्नं तदेव मेधः।**’[६०] अन्न मेध है। ‘**मेधं पवित्रं भृतं पाकं। सुसंस्कृतं पाकम्।**[६१] सुसंस्कृत स्निग्ध पाक मेध है। ‘**मेध इति यज्ञनामसु पठितम्।**’[६२] मेध यज्ञ है। ‘मेध’ धातु के छह अर्थ हैं - मेधा, हिंसा, संगम, सेचन, स्नेहन, आशुग्रहण। लेकिन ‘मेधृ संगमे च’ एकमात्र ऐसी धातु है, जिसे मेध शब्द का आधार माना जा सकता है। क्योंकि यज्ञ में हिंसा को लेशमात्र भी स्थान नहीं है। यज्ञ अहिंसक होता है। गोमेध का अर्थ गो हिंसा नहीं अपितु गो वाणी का मेधत्रमेधा के साथ संगमन ‘मेधृ संगमे’ धातु द्वारा ही निष्पन्न होता है। इस प्रकार मेध शब्द वेद व शतपथ ब्राह्मण में अन्न, दुग्ध, घृत, यज्ञ, पाक, पशु, आज्य, मेदस् धातु, बुद्धिवर्धक, शत्रुनाशक बल इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त है।

हविः - ‘**हवींषि ह वा आत्मा यज्ञस्य**’[६३] हवि ही यज्ञ की आत्मा है। सुसंस्कृत सुगन्धितयुक्त यज्ञ में हवनीय द्रव्य हवि कहलाता है। प्रत्येक मास में विभिन्न ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं जो कि प्राणियों के शारीरिक बल बुद्धि की वर्द्धक होती हैं अतः मास को भी ‘हवि’ कहते है। ‘**जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम्**’[६४] देवों की तृप्ति के लिए यज्ञ में हवि का प्रयोग किया जाता है।

पुरोडाश- शतपथ ब्राह्मण में पुरोडाश शब्द का प्रयोग सुसंस्कृत पाक विशेष, यज्ञ में विधिपूर्वक हुत पदार्थ, शिर-मस्तिष्क, ब्रह्मवर्चस्, पशुमेध

---

[५८] मा०.शा०. - ३/८/४/६

[५९] मा०.शा०. - १३/३/६/२

[६०] मा०.शा०. - १३/६/२/१

[६१] यजुर्वेद दयानन्द भाष्य - २५/३३

[६२] निघण्टु ३/१७

[६३] मा०.शा०. - १/६/३/३९

[६४] मा०.शा०. - १/२/१/२०

अर्थात् पशुओं के पौष्टिक दुग्ध घृतादि रसों से निष्पन्न पदार्थ पुरोडाश कहाता है। '**शिरो वा एतद् यज्ञस्य यत्पुरोडाशः**'[६५] जिस प्रकार यज्ञिय कपालों में पुरोडाश रखा जाता है, उसी प्रकार शिरः कपालों के मध्य मस्तिष्क सुरक्षित है। ''**तस्य यज्ञस्य एतच्छिरः यत्पुरोडाशः।**'[६६] '**परागे वै पुरोडाशः**'[६७] '**ब्रह्मवर्चस् पुरोडाशः**'[६८] शतपथ के समान अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी पुरोडाश को पशु, मस्तिष्क, ब्रह्मवर्चस् आदि के रूप में स्वीकार किया है।

चरु- महर्षि दयानन्द वैदिक कोष के अनुसार चरु के अर्थ हैं - **ज्ञानप्राप्ति**[६९], **मेघ**[७०], **स्थालीपाक**[७१], **मृत् पात्र**[७२] आदि। शतपथब्राह्मण में चरु को इस प्रकार परिभाषित किया है - '**ओदनो हि चरुः**'[७३] चरु ओदन है। '**गावेधुकं, वारुणं यवमयं हायनं चरुं विविधम्**।'[७४] गावेधुक चरु अर्थात् पशुओं के श्रम से उत्पादित धान्य या पंचगव्य। '**अथ सारस्वतं चरुं निर्वपति। वाग्वै सरस्वती।**'[७५] '**अथ बार्हस्पत्यं चरुं निर्वपति। ब्रह्म वै बृहस्पतिः।**'[७६] सारस्वत चरु और बार्हस्पत्य चरु सरस्वती वाणी व बृहस्पति परमात्मा ही इस चरु के निर्माता है। ज्ञानामृत चरु के ही पर्याय है - सारस्वत

---

[६५] मा०.शा०. - १/२/१/२

[६६] तैत्तिरीय ब्राह्मण - ३/२/८/३

[६७] तैत्तिरीय संहिता - ७/१/९/१

[६८] काष्ठ संहिता - २२/१३

[६९] चरुं ज्ञानलाभं मेघो वा। ऋग्वेद १/७/६

[७०] चरुः मेघनाम। निघण्टु १/१०

[७१] चरुः स्थालीपाकः पाको वा। यजुर्वेद २९/६०

[७२] चरुः मृच्चयो भवति। निरुक्त - ६/११

[७३] मा०.शा०. - ४/४/२/१

[७४] मा०.शा०. - ५/३/३/७-९

[७५] मा०.शा०. - ५/४/५/७

[७६] मा०.शा०. - ५/४/५/११

चरु और बार्हस्पत्य चरु। '**आत्मैवादित्यश्चरुः**'[७७] शुभकर्मों से व ज्ञान की साधना से यह आत्मा भी आदित्य के समान तेजस्वी होकर चरु बन जाता है। यह आत्मा भी चरु है। अहिंसा, शुचिता व आर्जवादिभावों से निर्मित ओद्मपाक, स्थालीपाक, पुरोडाश, इत्यादि तथा ज्ञान प्राप्ति, मेघ व आत्मा इत्यादि चरु शब्द के अर्थ हैं।

इस प्रकार यज्ञ की अग्नि, चार ऋत्विज् व मेध, हवि, पुरोडाश, चरु की भूमिका निर्धारण व स्वरूप ज्ञान के पश्चात् यज्ञ में प्रयोग किए जाने वाले कृष्णाजिन, यूप, स्फ्य व इष्टका का विचार किया जाता है।

कृष्णजिन - '**इयं वै पृथिवी कृष्णाजिनम्**'[७८] सृष्टि यज्ञ के लिए सम्पूर्ण पृथिवी ही कृष्णाजिन है। कृष्णाजिन शब्द का रूढ़ि अर्थ 'मृगचर्म' है। यज्ञिय पदार्थों की सुरक्षा के लिए वेदि पर कृष्णाजिन बिछाया जाता है। '**यज्ञो वै कृष्णाजिनम्**'[७९] कृष्णाजिन यज्ञरूप है। '**कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः**'[८०] यज्ञ सुकर्मों का मूल आधार है। समस्त सुकृतों का कारण कृष्णाजिन है। '**कृष्णाजिनं वै होतृषदनम्**'[८१] कृष्णाजिन होता का प्रमुख सदन यज्ञभूमि है। विस्तृत यज्ञ का आच्छादन होने से कृष्णाजिन होतृषदन है।

यूपः - '**यज्ञो वै विष्णुस्तस्य यूपः शिखा**'[८२] यज्ञ वेदि पर गाड़ा गया उन्नत स्तम्भ यज्ञ की शिखा सा प्रतीत होता है। यजमान की पाशविक प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर उन्हें व्यापक ब्रह्म से जोड़ने का काम यज्ञिय यूप

---

[७७] मा०.शा०. - ५/४/४/२३

[७८] मा०.शा०. - ६/४/१/९

[७९] मा०.शा०. - ६/४/१/६

[८०] मा०.शा०. - ६/४/२/६

[८१] मा०.शा०. - ६/४/२/७

[८२] मा०.शा०. - १/३/३/५

का है। '**यूपः स्थाणुः**'[८३] '**खादिरो यूपो भवति**'[८४]। '**गर्तन्वान् यूपो तीक्ष्णाग्रो भवति**'[८५] **यथा वै नासिके यद् यूपः।**[८६] यूप स्थाणु है, खदिरादिनिर्मित होता है, तीक्ष्णाग्र होता है। नासिका के सदृश है। जैसे दो चक्षुओं के बीच में नासिका होती है उसी प्रकार शुक्र तथा मन्थि नामक दो ग्रहों से अध्वर्यु तथा अन्य ऋत्विज् आदि अग्नि में आहुतियाँ देते हैं। वह यूप उन दो ग्रहों के मध्य नासिका सा प्रतीत होता है।

स्फ्य- राष्ट्र की सुव्यवस्था के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों शक्तियाँ कार्य करती हैं। ब्रह्मशक्ति यूप और स्फ्य इन दो शस्त्रों से पापनाशन करती है और क्षत्रशक्ति रथ और शर का प्रयोग करती है। शतपथ ब्राह्मण में चार प्रकार के वज्रों की चर्चा मिलती है- '**ततो द्वाभ्यां ब्राह्मणं यज्ञं चरन्ति। द्वाभ्यां राजन्य बोन्धवः संव्याथे। यूपेन च स्फ्येन च ब्राह्मणः रथेन च शरेण च राजन्यबन्धवः**।[८७] यज्ञ में गार्हपत्य वेदि के निर्माण के समय वज्र के इन चार रूपों का वर्णन है जिनमें से 'स्फ्य' एक है। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार 'स्फ्य' का अर्थ है- यज्ञ का एक खांडाकार काष्ठ। यह काष्ठनिर्मित है। आकृति मात्र शस्त्र जैसी है। ब्राह्मण पुरोहित का शस्त्र काष्ठनिर्मित होने से यह भी संकेत मिलता है कि वह मानापमान, लाभहानि निन्दास्तुति जैसे द्वन्द्वों से ऊपर उठकर यह काष्ठतुल्य हो जाता है।

इष्टका- इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति कराने वाली यज्ञ की इष्टकाओं का शतपथ ब्राह्मण में बहुविध अर्थों में प्रयोग हुआ है। यज्ञ की इष्टकाएँ विश्व को सुख प्रदान करने वाली हैं।[८८] विश्व का सुख ही ब्रह्म प्रजापति का सुख

---

[८३] मा०.शा०. - ३/६/२५

[८४] मा०.शा०. - ३/६/२/१२

[८५] मा०.शा०. - ५/२/१/७

[८६] मा०.शा०. - ४/२/१/२५

[८७] मा०.शा०. - १/२/४/१

[८८] मा०.शा०. - ६/१/२/५३

है। इष्ट यज्ञ के लिए निर्मित होने से इनका नाम इष्टका है। इष्टित्र यज्ञ पशुओं के घृत-दुग्धादि पदार्थों से सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है। अतः इष्टिसम्पनादक पशु भी इष्टका के भाव की प्रतीति कराते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इष्टका यज्ञाग्नि शरीर की अस्थि रूप का प्रतीक है।[८९]

इस प्रकार यज्ञ के अंग अग्नि व चार ऋत्विजों का स्वरूप ज्ञान कर मेध, हवि, पुरोडाश, चरु तथा कृष्णाजिन यूप, स्फ्य, इष्टका इनके प्रतीक व प्रत्यायनीयों का विचार कर अब चिति, वेद, सामिधेनी समित् - इनके अर्थों पर विचार किया जाता है।

चिति- यज्ञ-कुण्ड में इष्टका चयन समिधा चयन अनेक प्रकार से किया जाता है। यही चिति कही जाती है। '**ऋतवो है ते यदेताश्चितयः**'[९०] ऋतुएँ संवत्सर यज्ञ की चिति हैं। '**तद्यत् पंचचितीश्चिनोति। एताभिरेवैनं तत् तनूभिश्चिनोति। यत् चिनोति तस्माच्चितयः।**[९१] ऋतुएं शरीर में पंचविध धातुओं का चयन करती हैं - वे शरीर में लोम, त्वक्, माँस, अस्थि मज्जा के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। चिञ् चयने धातु से निष्पन्न शब्द के मुख्यार्थ हैं - चयन चुनना, चेतना स्फुरण। यज्ञ में चिति शब्द इष्टकाचयन के लिए प्रयुक्त होता है।

वेदि- '**इयमेव पृथिवी वेदिः**।'[९२] '**वेदिर्वै देवलोकः**'[९३]। यह पृथिवी ही वेदी है और विद्वानों का लोक ही वेदी है। '**यावती वेदि तावतीयं पृथिवी**।'[९४] जितनी वेदी है उतनी ही यह पृथिवी है अर्थात् जितने शुभकर्म हैं उतना ही सुखलाभ होता है क्योंकि यज्ञवेदी ही सकल ऐश्वर्यों की प्रदात्री

---

[८९] मा०.शा०. - ८/१/४/५

[९०] मा०.शा०. - ६/२/१/३६

[९१] मा०.शा०. - ६/१/२/१७

[९२] मा०.शा०. - १२/८/२/३६

[९३] मा०.शा०. - ३/६/२/५

[९४] मा०.शा०. - ३/७/२/१

है। '**आत्मैव वेदिः**।'[१५] आत्मा ही वेदी है। आत्मा में ही परम प्रभु के दर्शन होते हैं।

सामिधेनी- जिनके द्वारा यज्ञाग्नि को प्रज्वलित किया जाता है, वे यज्ञिय समिधाएँ, सामिधेनी कही जाती हैं, महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में लिखा है - '**सम्यगिध्यन्ते याभिस्ताः सामिधेनीः यज्ञसमिधः**।[१६]

समित्- समित् शब्द काष्ठादि समिधा, वेदविद्या, परमेश्वर, वसन्त ऋतु आदि अर्थों का प्रतीक है। '**प्राणा वै समिधः। प्राणा ह्येते समिन्धते**।'[१७] प्राण समिधा है। शरीराग्नि को प्रदीप्त करने से प्राण समित् है। '**अस्थि वा एतत् यत् समिधः**।'[१८] अस्थि समित् हैं। शरीर का मूल आधार अस्थियाँ हैं और यज्ञाग्नि का मूल आधार समित् हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त शोध लेख में शतपथब्राह्मण के प्रतीकों व प्रत्यायनीयों को जानने मानने व समझने के लिए यज्ञ सहित सत्रह पदार्थों का स्वरूप निश्चय किया जो कि यज्ञ में प्रयुक्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण की शैली है प्रतीकों से समझाने की। यदि उन प्रतीकों का बोध हो जाता है तो प्रत्यायनीय स्वतः समझ में आ जाता है। प्रतीक अनेकार्थक होते हैं अतः प्रकरणवित् होकर उनके अर्थों का निर्धारण करना आवश्यक है।

---

[१५] मा०.शा०. - १२/९/१/१

[१६] यजुर्वेद दयानन्दभाष्य - १३/२०

[१७] मा०.शा०. - ९/२/३/४४

[१८] मा०.शा०. - ९/२/३/४६

वेदि निर्माण शिल्प विज्ञान
(शतपथ ब्राह्मण के परिप्रेक्ष्य में)

देवप्रकाश[१]

आजकल जिसको "इण्डस्ट्री" कहते हैं, वैदिक काल में उसी को शिल्पशास्त्र अथवा कलाज्ञान कहते थे। शिल्प शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए स्वामी दयानन्द उणादिवृत्ति में लिखते हैं कि "**यत् शीलति समादधति तत् शिल्पम् कौशलं वा**[२] अर्थात्- जिसके द्वारा सभी कर्म कुशलतापूर्वक किये जायें वह शिल्प है। इस प्रकार व्यवस्थित नियमबद्ध सभी कर्म शिल्प कहलायेंगे। यथा चित्रकला, तक्षण कला, वास्तु कला, संगीत, रंगकर्म, नृत्य और स्थापत्य आदि शिल्प कहलाते हैं। इन्हीं सभी कर्मों का निर्माण अनुष्ठानादि शिल्प है। इसके जानने वाले विश्वकर्मा या शिल्पी कहलाते थे। यज्ञ शब्द की परिभाषा करते हुये स्वामी दयानन्द लिखते हैं- "**जो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जो शिल्प व्यवहार और जो पदार्थ विज्ञान है जो कि जगत् के उपकार के लिये किया जाता है उसको यज्ञ कहते हैं।**[३] यज्ञ शब्द '**यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु**' धातु से निष्पन्न हुआ है। धात्वर्थानुसार अर्थ करते हुए स्वामी दयानन्द यजुर्वेद भाष्य में लिखते हैं-

---

[१] **शोधच्छात्र वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

[२] उणादि कोष। ३/२८

[३] आर्योद्देश्यरत्नमाला। ४७

'**धात्वर्थाद् यज्ञस्त्रिधा भवति**'। इस प्रकरण में संगतिकरण को व्युत्पादित करते हैं-

सम्यक्पदार्थगुणसम्मेलविरोधज्ञानसंगत्याशिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणम् नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठाम्।[४] अर्थात् अच्छी प्रकार से पदार्थों के गुणों को विरोधाविरोधपूर्वक जानकर उनका मिलाना ही शिल्प विद्या है और नित्य विद्वानों का समागम करना यज्ञ का अर्थ है। अस्तु, यज्ञ मण्डप, कुण्ड, यज्ञपात्र, शास्त्रास्त्र, शकट और रथ आदि जितने कारीगरी से सम्बन्ध रखने वाले याज्ञिक पदार्थ हैं, सबका समावेश शिल्प विज्ञान में होता है। यज्ञ के लिये उपयुक्त भूमि का परीक्षण करने से लेकर यज्ञमण्डप, यज्ञवेदि, यज्ञीय विभिन्न उपकरण बनाना, उनका क्या परिणाम होता है? इसका यथावत् विज्ञान शिल्प है। प्रस्तुत शोधपत्र के माध्यम से यज्ञमण्डप तथा यज्ञवेदि की निर्माण विधि तथा प्रकारों का विवरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

यज्ञमण्डप को यज्ञशाला भी कहते हैं। यह अधिक से अधिक सोलह हाथ सम चौरस, चौकोण और न्यून से न्यून आठ हाथ की हो। यदि भूमि अशुद्ध हो तो यज्ञशाला की पृथिवी और जितनी गहरी वेदि बनानी हो उतनी पृथिवी दो-दो हाथ खोद अशुद्ध मिट्टी निकालकर उसमें शुद्ध मिट्टी भरें। यदि सोलह हाथ की समचौरस हो तो चारों ओर बीस खम्भे और जो आठ हाथ की हो तो बारह खम्भे लगाकर उन पर छाया करें। वह छाया की छत वेदि की मेखला से दश हाथ ऊँची अवश्य होवे और यज्ञशाला के चारों दिशा में चार द्वार रखें और यज्ञशाला के चारों ओर ध्वजा, पताका, पल्लव आदि बाँधें। नित्य मार्जन तथा गोमय से लेपन करें और कुमकुम, हल्दी, मैदा की रेखाओं से सुभूषित किया करें।[५] वस्तुतः प्राचीनकाल में नित्य यज्ञों के लिये यज्ञमण्डप उपर्युक्त प्रकार का स्थायी गृहों के पूर्व अथवा उत्तर दिशा में बनाया जाता था। परन्तु विशेष यागों सोमयज्ञ आदि में प्राकृतिक

---

[४] यजुर्वेद भाष्य। १/२

[५] संस्कारविधि, सामान्य प्रकरण, यज्ञशाला प्रकरण।

वनस्पतियों से आवश्यकतानुसार भूमि पर मण्डप का निर्माण किया जाता था।

वेदि निर्माण- यज्ञ करने के लिये अर्थात् वेद को प्रतिष्ठित करने के लिये वेदि का निर्माण किया जाता है। इस वेदि के निर्माण करने की प्रक्रिया शतपथ ब्राह्मण के वेदि निर्माण ब्राह्मण में इस प्रकार निरूपित है-

हविर्वेदि के लिये एक महाशाला बनाई जाती है, जो कि कुशादि की कुटी के आकार की होती है। उस महाशाला के अन्दर आहवनीयाग्नि के समीप आहवनीयागार बनाया जाता है एवं गार्हपत्या के समीप गार्हपत्यागार बनाया जाता है। महाशाला के मध्य में एक बड़ा वंश (बाँस) पूर्व से पश्चिम में लगाया जाता है। इसे पूर्व दिशा में लगाने के कारण इसे प्राचीन वंश कहते हैं। इस प्राचीनवंश के दोनों ओर दो बड़े-बड़े थूणे लगाये जाते हैं। और मध्य में छोटी-छोटी थूणियाँ लगायी जाती हैं। इस शाला के पूर्व व पश्चिम भाग के दो थूण (स्तम्भ) सबसे बड़े होते हैं। अतः उन्हें बड़े होने से स्थूणराज कहा जाता है। एक स्थूण शाला के पूर्वभाग में होता है, जहाँ कि हविर्वेदि का आहवनीय होता है। दूसरा पश्चिम भाग में होता है जहाँ कि हविर्वेदि का गार्हपत्य होता है। प्राचीन वंश के पूर्व भाग में आहवनीय के पुरो देश में वर्तमान जो विशाल स्तम्भ (स्थूण राज) है, उससे अध्वर्यु पूर्व की ओर तीन प्रक्रम करता है। एक पद १२ अंगुल का होता है और दो पदों का एक प्रक्रम होता है अतः वह २४ अंगुल का होता है। अध्वर्यु प्राचीन वंश के पूर्व भाग में व आहवनीय के पूर्व में वर्तमान पृथु स्तम्भ से तीन प्रक्रम चलता है। उसके अन्त में वह शङ्कु गाड़ देता है। यही ७२ अंगुल का प्रदेश हविर्वेदि तथा महावेदि के अन्तर काल का प्रदेश है।[६] इसके बाद अध्वर्यु उस मध्यम शङकु से दक्षिण की ओर १५ प्रक्रम करता है और वहाँ

[६] तद्य एष पूर्वार्ध्यो वर्षिष्ठः स्थूणाराजो भवति। तस्मात्प्राङ्प्रक्रामति त्रीन्विक्रमांस्तच्छङ्कुं निहन्ति सोऽन्तःपातः॥ शतपथ ब्रा० ।३/५/१/१

शङ्कु गाड़ देता है। यह उस वेदि की दक्षिण श्रोणि है।[७] यहाँ यह ध्यान रहे कि वेदि शब्द स्त्रीलिंग है अतः वेदि की रचना स्त्री के मध्यभाग सदृश बनाई जाती है। इसी प्रकार मध्यम शङ्कु से अध्वर्यु उत्तर की ओर १५ प्रक्रम करता है और वहाँ शङ्कु गाड़ देता है यही उस वेदि की उत्तर श्रोणि है।[८] उसी मध्यम शङ्कु से अध्वर्यु पूर्व की ओर ३६ प्रक्रम (६२ कदम) करता है। और वहाँ शङ्कु गाड़ देता है। यही इस वेदि का पूर्वार्ध है।[९] तत्पश्चात् उसी मध्यम शङ्कु से अध्वर्यु दक्षिण की ओर १२ प्रक्रम करता है और वहाँ शङ्कु गाड़ देता है। यह इस वेदि का दक्षिण स्कन्ध है।[१०] इसी प्रकार इसी मध्यम शङ्कु से उत्तर की तरफ १२ प्रक्रम करता है और वहाँ शङ्कु गाड़ देता है। यही वेदि का उत्तर स्कन्ध है। यही वेदि का परिमाप है।[११]

वेदि का पश्चात् भाग मध्यम शङ्कु से १५ प्रक्रम दक्षिण व १५ प्रक्रम उत्तर इस प्रकार ३० प्रक्रम का होता है।[१२] प्राचीन दिशा में स्थित वेदि का दक्षिण व उत्तर स्कन्ध मध्यम शङ्कु से १२+१२ प्रक्रम मिलकर वह भाग २४ प्रक्रम का हो जाता है। क्योंकि २४ अक्षर का गायत्री छन्द होता है। यज्ञ का पूर्वार्ध गायत्री होता है। यह वेदि का पूर्वार्ध भाग है इसलिये २४ प्रक्रम का

---

[७] तस्मान्मध्या माच्छङ्कोः। दक्षिणा पंचदश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सा दक्षिणा श्रोणिः॥ शत.ब्रा. ३/५/१/२

[८] तस्मान्मध्या माच्छङ्कोः। उदङ्पंचदश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सोत्तरश्रोणिः॥ शत. ३/५/१/३

[९] तस्मान्मध्या माच्छङ्कोः। प्राङ्षट्त्रिंशतं विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सपूर्वार्धः॥ शत. ३/५/१/४

[१०] तस्मान्मध्या माच्छङ्कोः। दक्षिणा द्वादश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति दक्षिणोंऽसः। शत. ३/५/१/५

[११] तस्मान्मध्या माच्छङ्कोः। उदङ्द्वादश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स उत्तरो एषा मात्रावेदेः। शत. ३/५/१/६

[१२] अथ यत्त्रिंशद्विक्रमा पश्चाद्भवति। शत० ब्रा० ३/५/१/७

बनाया जाता है।[१३] वेदि का पश्चिमार्द्ध भाग पूर्वार्द्ध भाग की अपेक्षा विशाल अर्थात् स्थूल होता है, क्योंकि वेदिरूप स्त्री का पश्चिमार्द्ध भाग श्रोणि (कटि) रूप है, इसलिये लोक में योषा वही अच्छी मानी जाती है, जिसका श्रोणि भाग स्थूल होता है। वेदि का भी पश्चिमार्द्ध भाग श्रोणिरूप है और प्रजनन शक्ति से युक्त है इसलिये वेदि के पश्चिम भाग को विशाल बनाया जाता है।[१४] अस्तु, इन शङ्कु चिह्नित स्थानों के माध्यम से घेर देते हैं। यह वेदि का आकार बनकर तैयार हो जाता है। सोमयागादि बड़े यागों में प्राग्वंश शाला से बाहर पूर्व में उत्तर वेदि या महावेदि का निर्माण किया जाता है। अब उसके परिमाप का विवेचन किया जाता है। यज्ञांग वेदि की जो उत्तर वेदि है, वही वेदि का नासिका भाग है, जैसे नासिका भाग मुख प्रदेश में आँख कानादि की अपेक्षा से अधिक उन्नत होता है। अतः सोमयागीय वेदि की नासिका स्थानीय उत्तर वेदि को अधिक उन्नत बनाया जाता है। अतः सोमयाग के पूर्वावयवभूत प्रदेश से अधिक उन्नत होने के कारण इसे उत्तर वेदि के नाम से कहा जाता है।[१५] सोमयाग की महावेदि के पूर्व की ओर एक उत्तर वेदि युग और शम्या के द्वारा नापकर बनाई जाती है। युग बैलों के कन्धों पर रखने वाला जुआँ होता है तथा जुएँ के दोनों ओर जो कीले रहते हैं उन्हें शम्या कहा जाता है। इस शम्या का परिमाण विभिन्न कर्मों में भिन्न-

---

[१३] अथ यच्चतुर्विंशतिविक्रमा पुरस्ताद्भवति। चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री पूर्वार्धो वै यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्माच्चतुर्विंशतिविक्रमा पुरस्ताद्भवत्येषामात्रा वेदेः। शत० ब्रा० ३/५/१/१०

[१४] अथ यत्पश्चाद्वरीयसी भवति। पश्चाद्वरीयसी पृथुश्रोणिरिति वै योषां प्रशंसन्ति यद्वेव पश्चाद्वरीयसी भवति पश्चादेवैतद्वरीयः प्रजननं करोति तस्मात्पश्चाद्वरीयसः प्रजननादिमाः प्रजाः प्रजायन्ते। शत० ब्रा० ३/५/१/११

[१५] नसिका ह वा एषा यज्ञस्य यदुत्तरवेदिः। अथ यदेनामुत्तरां वेदे रूपं किरति तस्मादुत्तरवेदिर्नाम्। शत० ब्रा० ३/५/१/१२

भिन्न होता है। लोक में अश्व (योग्य) युग और शम्या से युग्म होकर ही हव्य अर्थात् पदार्थों का वहन करता है। प्रकृतयज्ञ में उत्तर वेदि देवताओं के लिये हव्य वहन करने वाला अश्व है। अत एव इस उत्तर वेदि का नाप (मर्यादा) युग और शम्या के द्वारा ही करना चाहिये। उत्तर वेदि बनाने के लिये जहाँ से मिट्टी लाई जाती है वह स्थान तादर्थ्यात् उत्तर वेदि कहा जाता है। उस स्थान को शम्या से नापते हैं। तथा जहाँ लाई जाती है उस उत्तरवेदि को युग से नापते हैं।[१६] ऋत्विक् शम्या तथा स्फ्य (काष्ठ निर्मित तलवार) हाथ में लेता है। महावेदि के उत्तर भाग में उत्तर वेदि के निर्माण के लिये एक चतुष्कोण गर्त से जिसे 'चत्वाल' कहा जाता, मिट्टी लाई जाती है। उस चत्वाल का निर्माण बतलाते हैं। हविर्वेदी के चारों ओर विभिन्न दूरियों पर शङ्कु गाड़े जाते हैं। इनमें से जो पूर्वार्द्ध भाग वाला उत्तरार्ध्य शङ्कु है उससे ३ विक्रम पश्चिम की ओर अध्वर्यु चक्रमण करता है और वहाँ एक चिन्ह बना देता है। यही चत्वाल का स्थान है। किन्तु याज्ञवल्क्य मतानुसार महावेदि से उत्तर में यज्ञ का कूड़ा डालने के लिये एक खड्डा बनाया जाता है उससे आगे उत्तरार्ध्य शङ्कु से पश्चिम की ओर जहाँ ठीक समझे वहीं चात्वाल बना लें।[१७] अध्वर्यु महावेदि के दक्षिण श्रोणिरूप प्रान्त भाग से सटाकर उत्तर मुख कर के शम्या को रखता है और वहाँ चात्वाल निर्माण के लिये चिन्ह बना लेता है।[१८]

---

[१६] तां वै युगशम्येन विमिमीते। युगेन यत्र हरन्ति शम्यया यतो हरन्ति युगशम्येन वै योग्यं युजन्ति सा यदेवादः सिंही भूत्वा शान्तेवाचरत्तदेवैनामेतद्यज्ञे युनक्ति॥ शत० ब्रा० ३/५/१/२४

[१७]अथ शम्यां च स्फ्यं चादत्ते। तद्य एष पूर्वार्ध्य उत्तरार्ध्यः शङ्कुर्भवति तस्मात्प्रत्यङ्प्रक्रमिति त्रीन्विक्रमांस्तच्चात्वालं परिलिखति सा चात्वालस्य मात्रा नात्र मात्रास्ति यत्रैव स्वयं मनसा मन्येताग्रेणोत्करं तच्चात्वालं परिलिखेत्। शत०ब्रा० ३/५/१/२६

[१८] स वेद्यन्तात्। उदीचीं शम्यां निदधाति स परिलिखति। शत० ब्रा० ३/५/१/२७

तदनन्तर अध्वर्यु उत्तराभिमुखी शम्या रेखा से पूर्व की ओर उत्तरमुख कर शम्या रखता है, और वहाँ परिलेख करता है।[19] उत्तर मुख वेदि से सटाकर उत्तर की ओर शम्या परिमाण की दो रेखायें खींचकर उसी वेदि के अन्त में पूर्वाभिमुख कर के शम्या रखता हुआ चिन्ह बनाता है।[20] तदनन्तर उत्तर भाग में पूर्वाभिमुख कर शम्या को रख देता है और उस स्थान पर चिन्ह अंकित करता है।[21] अध्वर्यु पूर्व निर्दिष्ट रीति से शम्या से भू प्रदेश को नापकर चात्वाल बनाकर, वहाँ से महावेदि में उत्तरवेदि के निर्माण के लिये अग्नि के नाम बोलता हुआ ही चात्वाल से मिट्टी लाता है।[22] वह अध्वर्यु स्फ्य (काष्ठ निर्मित तलवार) से उस मिट्टी को खोदता है। चात्वाल के चारों कोनों से मिट्टी लाता हुआ अध्वर्यु सभी दिशाओं से मिट्टी लाता है।[23] उत्तर वेदि के निर्माण के लिये मिट्टी लाने के बाद अध्वर्यु अनुक्रम से मिट्टी को फैलाता है। उसे वेदि के स्वरूप में कर लेता है।[24] यह पूर्व ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि उत्तर वेदि का माप युग से किया जाता है। युग का परिमाण ८६ अंगुल का होता है। इस प्रकार उत्तर वेदि चारों ओर ८६-८६ अंगुल की बनाई जाती है। कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार यजमान के दस पदों के बराबर उत्तर वेदि बनाई जाती है।[25] उत्तर वेदि के मध्य में उससे ऊँची

---

[19] अथ पुरस्तात्। उदीचीं शम्यां निदधाति स परिलिखति। शत० ब्रा० ३/५/१/२८

[20] अथानुवेद्यन्तम्। प्राचीं शम्यां निदधाति स परिलिखति। शत० ब्रा० ३/५/१/२९

[21] अथोत्तरतः। प्राचीं शम्यां निदधाति स परिलिखति। शत० ब्रा० ३/५/१/३०

[22] अथ हरति। यत्र हरति तदग्नीदुपसीदति स वा अग्निनामेव नामानि गृह्णन्हरति। शत० ब्रा० ३/५/१/३१

[23] स प्रहरति ...... तां वै चतुः क्तेश्चात्वालाद्धरति चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्यो हरति। शत० ब्रा० ३/५/१/३२

[24] अथानुव्यूहति। शत० ब्रा० ३/५/१/३३

[25] युगमात्रीं यजमानदशपद्यां वा। का०श्रौ० सू० ५/७६

चतुष्कोण छोटी वेदि और बनाते हैं। इसी के लिये कहा है कि मध्य में नाभि के समान करते हैं यह इसलिये बनाई जाती है जिससे उत्तर वेदि पर एक स्थान पर बैठे-बैठे ही घृत का आधान किया जा सकता है।[२६] उस वेदि पर अध्वर्यु पानी का छिड़काव करता है, इस पर पानी छिड़कना इसके शरीर को सुन्दर व कोमल बनाना है। उत्तर वेदि पर पानी का सिंचन करता हुआ उसे रमणीय बनाकर देवताओं को तृप्त करना है।[२७] तदनन्तर अध्वर्यु चमकदार रेत (बालू) के कणों को इस वेदि पर डालता है। वेदि योषा है अतः उसका सौन्दर्य अलंकार से बढ़ जाता है। और सिकता चमकदार होने के कारण अलंकार स्थानीय है। चूंकि सिकता से इस आधारभूत सिंहीरूप अग्नि का विद्युत् शान्त हो जाता है इसीलिये उत्तर वेदि पर सिकता डाली जाती है। इसके बाद पलाश, देवदारू, विकङ्कत आदि यज्ञीय वृक्षों में से किसी एक वृक्ष के पत्ते लाकर इस उत्तरवेदि को ढक देते हैं। पत्तों से आच्छादित उत्तर वेदि रात्रि भर आच्छादित रहती है।[२८] अस्तु यह यज्ञीय शिल्प का कुछ प्रतिपादन शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर किया। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पात्र, कृषि यन्त्र तथा शास्त्रास्त्रों के भी निर्माण की प्रक्रिया और शिल्पों का वर्णन शतपथ में विद्यमान है।

---

[२६] तां वै युगमात्रीं वा सर्वतः करोति। यजमानस्य वा दश दश पदानि। .... मध्ये नाभिकामिव करोति समानत्रासीनो व्याघारयाणीति। शत० ब्रा० ३/५/१/३४

[२७] तामाद्भिदरभ्युक्षति। .... योषा वा उत्तरवेदिस्तामेवैतद्देवेभ्यो हिन्वति तस्मादद्भिरभ्युक्षति। शत० ब्रा० ३/५/१/३५

[२८] सोऽभ्युक्षति। .... अथ सिकताभिरनुविकिरत्यलंकारोन्वेव सिकता भ्राजन्त इव हि सिकता। यात्सिकता अग्निं वा अस्यामाधास्यन्भवति तथो हैनामाग्निर्न हिनस्ति तस्मात्सिकताभिरनुविकिरति सोऽनुविकिरति सिंह्यवासि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्वेत्यथैनां छादयति सा छन्नैतां रात्रिं वसति। शत०ब्रा० ३/५/१/३६

शतपथब्राह्मण में प्रतिपादित दीक्षणीयेष्टि

सुकान्त आर्य[1]

वैदिक मन्त्रों का अर्थ, वैदिक यज्ञों की प्रक्रिया तथा मन्त्रार्थ एवं प्रक्रिया के परस्पर सम्बन्धरूपी ज्ञानगंगा को पार करने हेतु निस्सन्देह ब्राह्मणग्रन्थों की नौका पर आरूढ होकर जाना पडेगा अन्यथा किसी अशिक्षित नाविक रूपी पाश्चात्य वेदभाष्यकार के भ्रम में आकर नदी की बीच भँवर में गोता खाना पडेगा। अतः आर्षमार्ग का अनुसरण करते हुए यज्ञादि प्रक्रिया के रहस्य को ब्राह्मणग्रथों के मूलभाग से ही जानने का यथासम्भव प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में ही आचार्यों ने यज्ञ एवं यज्ञरहस्यों को मन्त्रार्थ के साथ मन्त्रों का विनियोग करते हुए विभिन्न आख्यानों उपाख्यानों के माध्यम से सरल एवं सुगम बनाया है। उसी क्रम में विशाल कलेवर वाले यजुर्वेदीय शतपथब्राह्मण में शत देवकर्मों से प्रसारित किये जाने वाले यज्ञ-प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन है। यहाँ पर श्रौतयागों का विशेष वर्णन देखने को मिलता है। सोमयाग भी एक श्रौतयाग है।

वैदिककाल में सोमयाग (अग्निष्टोमयाग) के प्रथमदिन ही ऋत्विग्वरण के पश्चात् यजमान तथा यजमानपत्नी को व्रत एवं याग से सम्बन्धित नियमों का पालन करने के लिये तत्पर करके उपस्थित सामाजिकों के समक्ष सर्वसम्मति से उसको योग्य यजमान परिवार घोषित

---

[1] **शोधच्छात्र, संस्कृत-विभाग, दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली**

किया जाता था। यह प्रक्रिया विशेषतः श्रौतयागों में विशिष्ट सप्तविध सोमयागों में याग के आरम्भ में सोमक्रयणादि से पूर्व यजमान और यजमानपत्नी को दीक्षित करने हेतु की जाती है। इसी दीक्षा के प्रयोजन से की जाने वाली इष्टि[२] को दीक्षणीयेष्टि कहते हैं। दीक्षणीयेष्टि की विशद एवं तथ्यात्मक चर्चा मूलतः ऋग्वेदीय ऐतरेय-ब्राह्मण तथा यजुर्वेदीय शतपथ-ब्राह्मण में ही देखने को मिलती है। आचार्य महिदास ऐतरेय तो अपने ब्राह्मणग्रन्थ में इस इष्टि को विशद व्याख्यापूर्वक प्रस्तुत करते हैं परन्तु शतपथकार याज्ञवल्क्य भी अपने ब्राह्मणग्रन्थ के तृतीय-चतुर्थकाण्ड के सोमयाग प्रकरण में एक नवीन दृष्टिपथ की सृष्टि करते हैं।

शतपथकार के अनुसार प्रथमदिन के मुख्यकार्यों में दीक्षाविधान में ही दीक्षणीयेष्टि निहित है।

प्रथमदिन के मुख्यकर्म -

१. ऋत्विग्वरण	२. शाला निर्माण
३. दीक्षाविधा	४. महावीरसम्भरण
५. यूपनिर्माण	६. व्रतभक्षण

प्रस्तुत शोधपत्र में विषय की गम्भीरता को ध्यान में रखकर यथाक्रम उपर्युक्त तीन मुख्यकर्मों के विषय में ही चर्चा की गई है।

प्रथमकर्म ऋत्विग्वरण है। सबसे पहले सोमप्रवाक् नामक ऋत्विक् का वरण किया जाता है जो कि अग्निष्टोमयाग में वरण किये जाने वाले सोलह ऋत्विजों से भिन्न है। क्योंकि यही पुनः अपने साथ सोलह ऋत्विजों को निमन्त्रित करके देवयजन स्थान पर लाकर उन्हें मधुपर्कादि देकर अग्नि का समारोप करते हैं।

द्वितीयकर्म शालानिर्माण कर्म है। इस कर्म में यजमान द्वारा निश्चित

---

[२] इच्छन्ति यज्ञमाभिरितीष्टिशब्दव्युत्पत्तिः॥ ऐतरेयब्राह्मण १.१.२

किये गये परिसर में विमित (वर्गाकार) अथवा शाला[३] (आयताकार) देवयजन स्थान के ऊपर वितान प्रसारित किया जाता है। पुनः अरणियों के मन्थन से अग्नि उत्पन्न करके कुण्ड में स्थापित किया जाता है।

तृतीयकर्म दीक्षाविधान कर्म है। इस प्रक्रिया में यजमान क्षौरादि भद्रकर्म से निवृत्त होकर स्नानादि[४] के पश्चात् दीक्षाविधि (दीक्षणीयेष्टि) के लिए प्रवृत्त होता है। जो कि किसी भी सोमयाजी के लिए अत्यावश्यक कर्म माना गया है। दीक्षित यजमान के स्नान के विषय में शतपथब्राह्मण के पाश्चात्य भाष्यकार जूलियस एगलिंग की निम्नलिखित व्याख्या द्रष्टव्य है। इन्होंने भी स्नान हेतु पवित्र जल की उपस्थिति को स्वीकारा है।

He bathes. For impure, indeed, is man: he is foul within in that he speaks untruth; and water is pure: he thinks, 'May I be consecrated, after becoming pure: and water is cleansing: he thinks, May I become consecrated after being cleansed!' This is the reason why he bathes.[५]

इसके अनन्तर महावीर-सम्भरण, यूप निर्माण तथा व्रत-भक्षणादि क्रियायें होती हैं। परन्तु ध्यातव्य है कि शास्त्रानुसार यह सभी क्रियायें प्रातःकालीन वेला में ही सम्पन्न हो जाती हैं तथा दीक्षाविधि (दीक्षणीयेष्टि) अपराह्न वेला में ही की जाती है।[६] इस याग को वसन्त शुक्ल एकादशी से आरम्भ करके पूर्णिमा तक ही आयोजित करने का विधान है।

---

[३] तच्छालां वा विमितं वा प्राचीनवंशं मिन्वन्ति॥ शतपथब्राह्मण ३.१.१.६

[४] अथ स्नाति। अमेद्ध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेद्ध्या वा ऽआपो मेद्ध्यो भूत्वा दीक्षा ऽइति पवित्रं वा ऽआपः दीक्षा तस्माद्वै स्नाति॥ शतपथब्राह्मण ३.१.२.१०

[५] '**Satapatha-Brāhma*n*a**' Translated by Julius Eggeling, Part-2, Page. No. 8

[६] अपराह्णे दीक्षेत। वही. ३.१.२.१

यज्ञ आरम्भ करने से पूर्व वह यजमान किन नियमों का पालन करेगा तथ किस प्रकार से व्रताचरण करेगा? शतपथब्राह्मण के अनुसार ये सभी विषय अवश्यमेव द्रष्टव्य हैं। वह दीक्षित यजमान किसी अन्य अदीक्षित व्यक्तियों से वार्तालाप न करे[७] जब तक कि वह इस सोमयाग में प्रवृत होने हेतु ऋत्विजों द्वारा घोषित न किया जाये।

देवयजन स्थान पर अग्निकुण्ड में अग्नि-स्थापन से पूर्व अध्वर्यु तथा उसके सहायक ऋत्विज् अरणि-मन्थन करके ही अग्नि उद्दीपन करें ऐसा विधान है। कात्यायन श्रौतसूत्र में देवयजन में प्रवेश करते समय अरणियों पर अग्नि धारण करके ही प्रवेश करने का विधान है।[८] परन्तु इसी प्रकरण में शतपथ के पथिक स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी अपने शतपथ-ब्राह्मण भाष्य में लिखते हैं कि यजमान उत्तरारणि और अधरारणि धारण करके प्रवेश करता है तथा देवयजन के पूर्वार्ध में स्थित खम्भे के पास स्थित होकर यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करता है-

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वे ॥[९]

आज हम पृथिवी के सभी देवताओं के एकत्र होने वाले स्थान पर पहुँच गये हैं। अतः आप श्रद्धापूर्वक समर्पण की भावना के साथ सपत्नीक आहुति प्रदान करें तथा यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति हेतु उपस्थित सभी देवों से प्रार्थना करें।

अपराह्ण वेला में देवयजन स्थान के उत्तर दिशा में स्थित परिश्रय (क्षौरकर्मादि के निमित्त एक विशिष्ट कुटीर) में उपस्थित नापित के द्वारा क्षौर तथा रखे गये जलघट से स्नान का विधान मिलता है। यह क्षौरकर्म पहले अध्वर्यु ही आरम्भ करके छुरा नापित को देता है। शेषकार्य नापित सम्पादित करता है।

इसका तात्पर्य स्पष्ट करते हुए स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने

---

[७] स वै न सर्वेणेव संवदेत्। वही ३.१.१.१०

[८] कात्यायनश्रौतसूत्र ७.३०

[९] यजुर्वेदसंहिता ४.१

लिखा है कि किसी भी महान् कार्य को करने से पहले मनुष्य को सर्वतः शुद्ध होना अत्यावश्यक है। क्षौरकर्म तथा शीतलजल स्नान से मन एवं मस्तिष्क शुद्ध एवं शान्त होता है। अग्नि का अर्थ है नेता तथा आपः (जल) का अर्थ नीयमान। नीयमान की विशेषता यह है कि वह जल की भाँति जिस पात्र में हो उसी का अनुवर्त्तन कर लेता है। यह अनुवर्त्तन शक्ति ही नीयमानों का सर्वश्रेष्ठ गुण है। अतः जिसका नीयमानों से स्नेहयुक्त सम्बन्ध रहता है वे सदैव मलीनता से दूर ही रहते हैं। यही इस दीक्षाविधि में क्षौरकर्म का प्रत्यायनीय है।[१०] भाष्यकार एगलिंग भी इन्हीं मान्यताओं के पक्षधर हैं।

Thereupon they enclose a place north of the hall, and place a vessel of water in it. Beside this the barber takes up his position. He (the sacrificer) then shaves his hair and beard, and cuts his nails. For impure, indeed, is that part of man where water does not reach him.Now at the hair and beard, and cuts his nails, he does so in order that he may be consecrated after becoming pure.[११]

क्षौरकर्म से पूर्व नखकर्त्तन करने का विधान मिलता है। पहले दक्षिण हस्त के अंगुष्ठ तथा पाद के अंगुष्ठ के नखकर्त्तन करने को कहा गया है। जो कि मनुष्यों में सर्वथा विपरीत है। दक्षिण हस्त के अंगुष्ठ से आरम्भ करने की परम्परा देवत्रा (देवताओं में प्रचलित) मानी गयी है।[१२] भाष्यकार एगलिंग के अनुसार जहाँ देवत्रा परम्परा में दक्षिण हस्त

अतः मनुष्यों को भी अवश्य ही आरचण करना चाहिए। किसी भी

---

[१०] शतपथब्राह्मण भाष्य ३.१.२.२

[११] '**SATAPATHA-BRĀHMANA**' Translated by JULIUS EGGELING, Part-2, Page. No. 6

[१२] स वै नखान्येवाऽग्रे निकृन्तते। दक्षिणस्येवाऽग्रे सव्यस्य वा ऽअग्रे मानुषेऽथैवं देवत्राऽङ्गुष्ठयोरेवाऽग्रे कनिष्ठकयोर्वा ऽअग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा॥ शतपथब्राह्मण ३.१.२.४

कार्य को दक्षिण से आरम्भ करने पर उसका परिणाम क्या होता है? इसको प्रमाणित करने के लिए स्वामी जी ने अपने भाष्य में अथर्ववेद से निम्नलिखित मन्त्र को उद्धृत किया है।

कृतम्मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित्॥[१३]

प्रस्तुत उदाहरण दक्षिण की ओर से आरम्भ करने रूप प्रतीक का प्रत्यायणीयार्थ है।[१४]

अब स्नानादि के पश्चात् वस्त्र धारण की प्रक्रिया आती है। जो कि यजमान की परिपूर्णता का सूचक है। क्योंकि वह नवीन अहत[१५] क्षौमवस्त्र ही धारण कर सकता है। अन्यथा वह प्रतिदिन स्नान के पश्चात् धारण करने वाले वस्त्र को भी धारण कर सकता है जिसको क्षार आदि द्रव्यों से शुद्ध न किया गया हो। वहीं शतपथकार वस्त्र कोमनुष्य की त्वचा[१६] मानकर एक रोचककथा के माध्यम से सुधीजनों के लिए बोधगम्य करने का प्रयत्न किया है। दीक्षित के इस वस्त्र को अग्नि (तप) का प्रतीक माना है।[१७]

दीक्षित के कुछ व्रत व नियम भी हैं जिसमें सर्वप्रथम सत्याचरण को माना गया है। यह सत्याचरण का कार्य देवताओं का है।[१८] जब मनुष्य यह कहता है कि मैं अनृत को छोडकर सत्य को धारण करने हेतु सत्य के मार्ग पर ही चलूँगा तो वह देव सदृश हो जाता है।

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतञ्च सत्यमेव देवा

---

[१३] अथर्ववेदसंहिता ७.५०.८

[१४] शतपथब्राह्मण भाष्य ३.१.२.४

[१५] तद्वाऽअहतं स्यात्। शतपथब्राह्मण भाष्य ३.१.२.१९

[१६] अथ वासः परिधत्ते। सर्वत्वायैव स्वामेवाऽस्मिनेतत्त्वचं दधाति या ह वा ऽइयं गोस्त्वक्पुरुषे हैषाऽग्रऽआस॥ शतपथब्राह्मण ३.१.२.१३

[१७] अग्नेः पर्यासो भवति०॥ शतपथब्राह्मण ३.१.२.१८

[१८] एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्॥ शतपथब्राह्मण ३.१.१.५

अनृतम्मनुष्याः 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति'[१९] तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति॥"[२०]

"एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्॥[२१]

जो दीक्षा लेता है वह देवों के पास पहुँच जाता है। सच पूछो तो वह देवों से अभिन्न ही होता है।[२२] यजमान को दी जाने वाली दीक्षा की सम्पूर्णता सत्यपरायण यजमान के सिर पर ही खडी रहती है। जो कि साक्षात् उसके आचरण व नियम पालन पर आधारित है। मनुष्य के द्वारा अपने जीवन के ध्येय को सत्यपरायणता एवं कठिन परिश्रम से प्राप्त करके सभी लोगों के समक्ष अपनी दृढ प्रतिज्ञा के द्वारा उसको अटल बना देने का नाम ही दीक्षा है। उसी को शतपथकार कहते हैं कि-

"कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठिता भवतीति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवतीति॥"[२३]

दीक्षित अपने ध्येयों में से किसी एक को प्रधानतया लक्ष्य बनाकर अनन्य मन से उसको प्राप्त करने हेतु अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा के साथ शपथ लेता है। इसी को यदि शतपथकार के वचनों में कहें तो यह कहा जा सकता है कि 'सत्य पिता का वीर्य दीक्षा माता के गर्भाशय में पडने से दीक्षित नामक गर्भ उत्पन्न होता है। अतः कहा भी है-

"वृषा वै व्रतं योषा दीक्षा, वृषा सत्यं योषा श्रद्धा॥[२४]

शतपथकार ने सोमयाग के प्रकरण में यह भी कहा है कि **"दीक्षातपसो ग वा कुश्योरन्तर्निहितः सोम आस"** अर्थात् सोम दीक्षा और

---

[१९] यजुर्वेदसंहिता १.५

[२०] शतपथब्राह्मण ३.१.१.४

[२१] शतपथब्राह्मण ३.१.१.५

[२२] यो दीक्षेत स देवतानामेको भवति०। शतपथब्राह्मण ३.१.१.८

[२३] शतपथब्राह्मण १४.६.९.२४

[२४] शतपथब्राह्मण १२.८.२.६

तप के गमलों में लगा हुआ एक पादप है। इन वाक्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सोमयागादि के लिए यजमान की दीक्षा (दीक्षणीयेष्टि) परमावश्यक है।

अब दीक्षा समाप्ति के उपरान्त दीक्षित को अध्वर्यु स्वयं आदरपूर्वक आश्रय देकर देवयजनस्थान पर लेकर आता है। इस प्रकार अनेकों क्रियाओं के माध्यम से यजमान को दीक्षित करके सोमयाजी बानाया जाता है। यहाँ पर दीक्षा अग्नि (तप) का प्रतीक तो है परन्तु साथ ही श्रद्धा को भी दीक्षा का पर्याय माना है। अब यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि दीक्षा का शत्रु आलस्य है अतः दीक्षित को विलासमय जीवन से दूर करने हेतु ही यह दीक्षणीयेष्टि का विधान किया गया है। दीक्षा के आरम्भ में ही दीक्षार्थी के लिए दूध आदि के सेवनार्थ निषेध किया है। निषेध का कारण व्रतभंग है और व्रतभंग दीक्षार्थी के लिए मृत्युतुल्य है। अतः याज्ञवल्क्य ने दूध का निषेध नहीं अपितु निश्चित् मात्रा निर्धारित कर दी है जिससे की दीक्षार्थी की लक्ष्यपूर्ति में बाधा न हो सके। साथ ही दीक्षार्थी जिस गाय का दुग्धपान करेगा उसको व्रतदुधा भी कह दिया है।

निष्कर्षतः शतपथकार के वचनों को शतपथ के पथिक जिस प्रकार व्याख्यायित करते हैं प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य सायण के अनुचर पाश्चात्य भाष्यकारों ने भी कुत्रचित् यथावत् स्वीकारा है। अतः दीक्षा के सन्दर्भ में भाष्यकारों के वचनानुसार प्रस्तुत लेख लिखा गया है। अन्ततः वह यजमान याग समाप्ति के अनन्तर ऋत्विजों को अन्वाहार्य दक्षिणा देकर प्रशस्य को प्राप्त हो तथा राष्ट्रनिर्माण के लिए सदैव आहुति प्रदान करने वाला बने। इन्हीं श्रेष्ठकर्मों के माध्यम से ही मुक्ति सम्भव है - **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥**

शांखायन ब्राह्मण में देवता विमर्श

अरविन्द कुमार भारद्वाज[१]

विजय बहादुर[२]

वर्तमानकाल में ऋग्वेद के दो ब्राह्मण-ग्रन्थ समुपलब्ध होते हैं– ऐतरेय ब्राह्मण तथा शांखायन ब्राह्मण। शांखायन ब्राह्मण को कौषीतकि ब्राह्मण भी कहा जाता है। शांखायन ब्राह्मण में विविधज्ञान विज्ञान के साथ-साथ देवतत्त्व के विषय में भी विस्तार से चर्चा प्राप्त होती है। संहिताओं के समान ही शांखायन ब्राह्मण में भी देवताओं की संख्या ३३ मान्य है।[३] देवता यज्ञपति[४] हैं। सोम की आहुति पर आश्रित (सोमपायी) देवताओं में आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, बत्तीसवें इन्द्र और तैतीसवें प्रजापति हैं। यही ३३ पशुभाजन (पशुपायी) देवता भी हैं।[५] अग्नि, अश्विनौ, इन्द्र, पूषन्, मरुत्, वरुण, विष्णु, रुद्र, सविता, वाक्, वैश्वदेव, प्रजापति, बृहस्पति, सोम, चन्द्रमा, आदित्य, ऊषा, मैत्रावरुण, मित्र, द्यावापृथ्वी, पर्जन्य आदि देवताओं का उल्लेख इस ब्राह्मण में

[१] **शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ**

[२] **शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ**

[३] त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वे देवाः... (तत्रैव - १०.३), त्रयस्त्रिंशद्देवता... (तत्रैव - १४.२, १८.५)

[४] देवतैवमेघपतिरिति... (तत्रैव - १०.४)

[५] याश्च सोमपादेवता...... त्रयस्त्रिंसत्पशुभाजनाः... (तत्रैव - १२.६)

मिलता है। जिनमें से अग्नि, इन्द्र, रुद्र, विष्णु तथा प्रजापति का विशेषरूप से वर्णन प्राप्त होता है।

पृथ्वीस्थानीय देवों में अग्नि मुख्य है, जो यज्ञीय अग्नि का प्रतिनिधि रूप है। अग्नि का ज्ञान सर्वातिशायी है। शांखायन ब्राह्मण में अग्नि से सम्बन्धित जातवेदा सूक्त का उल्लेख १६.७, २०.२ तथा २०.३ आदि अन्य स्थलों पर हुआ है। अग्नि को देवों में नीचे छोर पर कहा गया है।[६] अग्नि का पवमान रूप जल में, प्रवहणशील (पावक) रूप वायु में तथा तेजस्वी (शुचि) रूप आदित्य में प्रतिष्ठित है। शांखायन ब्राह्मण में अग्नि के लिये घोर, शिव आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है।[७] अग्नि गायत्री से सम्बद्ध है तथा गायत्री इसका छन्द है।[८] अग्नि भरत है क्योंकि वह देवों के लिये हव्य ढोते (भरति) हैं।[९] अग्नि दाता है।[१०] अग्नि पथकर्त्ता है।[११] अग्नि देवताओं का मुख है।[१२] अग्नि को शर्व[१३], अन्नों के शमनकर्त्ता[१४], अग्नि राक्षसों के अपहन्ता[१५] कहा गया है। देवताओं के अधिभूत अग्निदेव हैं, वे अपने में वाणी को रखते हैं।[१६] शांखायन ब्राह्मण में **प्राणोऽग्निः**[१७],

---

[६] अग्निर्वै देवानमवर.... (तत्रैव - ७.१)

[७] तस्य वै ते वयं घोरास्तनूर्विनिधास्यामोऽथ यैव ते शिवा शग्म्या...(तत्रैव -१.१)

[८] गायत्रो वा अग्निर्गायत्रच्छन्दाः स्वेनैव तच्छन्दसाऽग्निम्... (तत्रैव - ३.२, ९.२)

[९] भारतेत्यग्निर्वै भरतः स वै देवेभ्यो हव्यं भरति...(तत्रैव - ३.२)

[१०] अग्निर्वै दाता... (तत्रैव - ४.२)

[११] अग्निर्वैपथिकृत्स... (तत्रैव - ४.३)

[१२] अग्निर्वै देवानां मुखम्...(तत्रैव - ३.६, ५.५)

[१३] शर्वोऽग्निः...(तत्रैव -६.३)

[१४] अग्निर्वा अन्नानां शमयिता...(तत्रैव - ६.१४)

[१५] अग्निर्वै रक्षसामपहन्ता... (तत्रैव - ८.४, १०.३)

[१६] अग्निर्देवं देवतानां नामाधिभूतं वाचमात्मन्दधते। (तत्रैव - २०.२)

ब्रह्म वा अग्निः[१८], **अग्निर्वैमृत्युः**[१९], **अग्निर्वा अहिर्बुध्य**[२०] आदि उल्लेख अग्नि के विषय में प्राप्त होते हैं।

इन्द्र का वैदिक देवताओं में विशिष्ट महत्त्व है। अन्तरिक्ष स्थानीय देवता होने के कारण इन्द्र द्यु तथा पृथ्वी के मध्य में हैं इसलिये शांखायन ब्राह्मण में **मध्यस्थो वा इन्द्रः**[२१] ऐसा उल्लेख किया गया है तथा साकमेघ यज्ञ[२२] को इन्द्र से सम्बन्धित बताया गया है। इन्द्र अशनि हैं।[२३] इन्द्र ब्रह्म हैं।[२४] शांखायन ब्राह्मण में एक रोचक उल्लेख प्राप्त होता है कि प्रजापति ने यज्ञ की सृष्टि के उपरान्त दर्श और पौर्णमास (हवि) से इन्द्र की सृष्टि की।[२५] शांखायन ब्राह्मण में निर्दिष्ट याज्ञिक कर्मों के अन्तर्गत इन्द्र से सम्बन्धित सूक्तों का पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है तथा सोमयाग के अन्तर्गत ऋग्वेदीय सूक्तों से इन्द्र की कई स्थलों पर स्तुति की गई है। शांखायन ब्राह्मण के १७वें अध्याय में इन्द्र के हरित अश्वों की प्रशंसा करते हुए इन्द्र ही षोडशी है तथा इन्द्र से श्रेष्ठ (ऊपर) कुछ नहीं है, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।[२६] इन्द्र वृषा (बलवान्) हैं। इन्द्र देवताओं के ओज

---

[१७] तत्रैव - ८.१

[१८] तत्रैव - ९.१, ९.५

[१९] तत्रैव - १३.३

[२०] तत्रैव - १६.७

[२१] तत्रैव - ५.४

[२२] एन्द्रो वा एष यज्ञक्रतुर्यत्साकमेधास्तद्यथा महाराजः.... (तत्रैव - ५.५)

[२३] अशनिरिन्द्रः... (तत्रैव -६.९)

[२४] इन्द्रो ब्रह्मेति... (तत्रैव - ६.१४)

[२५] प्रजापतिर्हियज्ञं ससृजे सोऽग्न्याधेयेनैव रेतोऽसृजत देवान्मनुष्यानसुरानित्यग्निहोत्रेण दर्शपूर्णमासाभ्यामिन्द्रमसृजत... (तत्रैव - ६.१५)

[२६] तत्रैव - १७.१, १७.४

अधिभूत को प्राप्त करते हैं तथा वे अपने में प्राण को रखते हैं।[२७] शांखायन ब्राह्मण के २२वें अध्याय में **यो जात एव प्रथमो मनस्वान्** (ऋ. २.१२.१) इस सूक्त को इन्द्र का तनु कहा गया है।[२८] इन्द्र विश्वजित् हैं क्योंकि इन्द्र ने इस सम्पूर्ण विश्व पर पूर्णतः विजय प्राप्त की है।[२९] इन्द्र त्रिष्टुभ् से सम्बद्ध हैं तथा मध्यंदिन सवन उनका आयतन है।[३०] इन्द्र ही वात (प्राण) के प्राप्त कर्त्ता हैं क्योंकि वे ही वात को प्राप्त कर शरीरों को ढूँढते हुए चलते हैं।[३१]

रुद्र एक अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं। शांखायन ब्राह्मण में रुद्र का अति संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होते हुए भी यह रुद्र पन्थ की बहुत अधिक उपयोगिता निर्धारित करता है। शांखायन ब्राह्मण में रुद्र का जो भी वर्णन प्राप्त होता है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है परन्तु वह वर्णन शांखायन ब्राह्मण पूर्ण पाठ का आवश्यक अंग नहीं है अपितु इस बात का परिचायक है कि एक नया धर्म (शैवधर्म) पुरानी पारम्परिक पूजा को बढ़ावा दे रहा था।[३२] रुद्र को देवों में श्रेष्ठ तथा ज्येष्ठ माना गया है।[३३] रुद्र अपने उपासकों के लिये अत्यन्त उपकारी हैं इसलिये वे शिव नाम से भी पुकारे जाते हैं। रुद्र मरुतों के पिता हैं। मरुत् रुद्र के गण हैं। शतपथ

---

[२७] इन्द्रं देवं देवतानामोजोऽधिभूतं प्राणमात्मन्दधते। (तत्रैव - २०.३)

[२८] तत्रैव - २२.४

[२९] विश्वजिदिन्द्रोहीदं सर्वं विश्वमजयत्स ... (तत्रैव - २४.१)

[३०] त्रैष्टुभो वा इन्द्रो मध्यंदिनायतनो व... (तत्रैव - २२.७)

[३१] इन्द्र उ वै वातापिः स हि वातमात्मा शरीराण्यर्हन्प्रतिपरैति...(तत्रैव - २७.४)

[३२] Rigveda Brahmanas: The Aitareya and Kauṣitaki Brahmans of the Rigveda, A.B. Keith, Harvard University Press, 1920 (भूमिका पृ. ३७)

[३३] रुद्रो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च देवानाम्... (शां. ब्रा. - २५.१३)

ब्राह्मण में रुद्र के नामकरण की एक रोचक आख्यायिका[३४] दृष्टिगोचर होती है – "प्रजापति ने जब सृष्टि करना प्रारम्भ किया तब एक कुमारका जन्म हुआ जो जन्म लेते ही अपने नामकरण के लिये रोने लगा। जन्म के समय ही रोदन क्रिया करने का सम्बन्ध होने के कारण आगे चलकर उस कुमार का नाम 'रुद्र' (यदरोदीत् तस्मात् रुद्रः) रखा गया।" शांखायन ब्राह्मण के षष्ठ अध्याय में शिव के आठ नामों का प्रतिपादन किया गया है - भव, शिव, पशुपति, उग्र, महादेव, रुद्र, ईशान तथा अशनि। इन नामों की उत्पत्ति यहाँ विचित्र रूप से बतलायी गयी है तथा उनके विशिष्ट व्रत का भी यहाँ निर्देश प्राप्त होता है। ऋग्वेद में रुद्र का स्थान अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं की अपेक्षा बहुत ही नगण्य सा प्रतीत होता है परन्तु यजुर्वेद और अथर्ववेद में रुद्र का स्थान बहुत कुछ महत्त्व संवलित है।[३५] रुद्राष्टाध्यायी में रुद्र के लिये भव, शर्व, पशुपति, उग्र, भीम, शब्दों का प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद में भी रुद्र के भव, शर्व, पशुपति, भूतपति यह नाम उल्लिखित हैं।[३६] शांखायन ब्राह्मण के अनुसार ये महादेव अष्ट नामों वाले तथा आठ प्रकार से विभक्त हैं। जो ऐसा जानता है उसकी प्रजा आठ पीढ़ियों तक अन्न खाती है और उसकी प्रजा में सदैव तेजस्वी उत्पन्न होते हैं।[३७] शांखायन ब्राह्मण के अनुसार भव जल[३८] है, शर्व अग्नि[३९] है, पशुपति वायु[४०] है, उग्रदेव औषधियाँ[४१] है, महादेव आदित्य[४२] है, रुद्र

---

[३४] शतपथ ब्रा. - ६.१.३.८

[३५] वैदिक साहित्य तथा संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, द्वितीय संस्करण १९५८ (पृ. ६१८)

[३६] अथर्ववेद - ११.२.१

[३७] स एषोऽष्टनामाऽष्टधाविहितो महान्देव आह......प्रजायामाजायते ... (शां. ब्रा. - ६.९)

[३८] तत्रैव - ६.२

[३९] तत्रैव - ६.३

[४०] तत्रैव - ६.४

चन्द्रमा[४३] है, ईशान अन्न[४४] है, अशनि इन्द्र[४५] है। जबकि अन्य स्थलों पर रुद्र की आठ मूर्तियाँ आठ भौतिक पदर्थों का प्रतिनिधित्व करती हैं - रुद्र अग्नि है, शर्व जलरूप है, पशुपति ओषधि है, उग्र वायु है, अशनि विद्युत है, भव पर्जन्य है, महान् देव (महादेव) चन्द्रमा है, ईशान आदित्य है।[४६] शुक्लयजुर्वेद में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उग्र - ये सब एक ही देवता के पृथक् -पृथक् नाम कहे गये हैं।[४७] वस्तुतः रुद्र अग्नि के ही प्रतीक हैं, अग्नि के समान भौतिक आधार पर ही रुद्र की कल्पना की गई है। अग्नि की शिखा ऊर्ध्वमुखी होती है, इसी कारण रुद्र के उर्ध्वलिंग की कल्पना की गई है। अग्नि वेदी के ऊपर प्रज्वलित होता है इसी कारण शिवलिङ्ग को जलधारी के मध्य स्थापित किया जाता है। अग्नि में घृत-आहुति अर्पित की जाती है इसी कारण से शिव का अभिषेक किया जाता है। शिवभक्तों द्वारा शरीर पर भस्म धारण करने की परम्परा का रहस्य भी इन तथ्यों को स्वीकार करने से भली भाँति समझ में आ जाता है।[४८] सम्भवतः इसीलिये अग्नि तथा रुद्र दोनों के लिये घोर, शिव, शर्व और मृत्यु आदि नामों तथा विशेषणों का उल्लेख शांखायन ब्राह्मण में मिलता है। रुद्र स्विष्ट्कृत् और अन्त में पाने वाले

---

[४१] तत्रैव - ६.५

[४२] तत्रैव -६.६

[४३] तत्रैव - ६.७

[४४] तत्रैव -६.८

[४५] तत्रैव - ६.९

[४६] वैदिक साहित्य तथा संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, द्वितीय संस्करण १९५८ (पृ. ६२४)

[४७] शुक्लयजुर्वेद - ३९.८

[४८] वैदिक साहित्य तथा संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, द्वितीय संस्करण १९५८ (पृ. ६२५)

हैं[४९], उनका अंश अन्त में है।[५०] रुद्र भैषज्य करते हैं, उनकी रोग निवारण करने की शक्ति का उल्लेख १६वें अध्याय में आया है। उनके पास हज़ारों औषधियाँ हैं जिसके कारण वह सबसे अच्छे वैद्य हैं।

विष्णु एक द्युस्थानीय देवता हैं। व्यापनशील होने के कारण विष्णु सूर्य के क्रियाशील रूप के प्रतिनिधि हैं।[५१] शांखायन ब्राह्मण में यज्ञ को विष्णु का प्रतीक माना गया है। ७वें अध्याय में अग्नि को निम्नकोटि तथा विष्णु को उच्चकोटि का देवता माना गया है। जगती मन्त्र तथा द्युलोक को विष्णु से सम्बन्धित कहा गया है।[५२] सोम को विष्णु के रूप में यजन करने का भी उल्लेख शांखायन ब्राह्मण में प्राप्त होता है।[५३]

प्रजापति का पद देवों में अग्रस्थानीय है। जगत् के स्रष्टा के रूप में प्रजापति ही मान्य हैं। प्रजापति देवताओं के भी सृष्टिकर्त्ता हैं। प्रजा की कामना से प्रजापति ने तप किया, उनके तप्त होने पर उनसे अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और उषा उत्पन्न हुये।[५४] प्रजापति ने तप करके प्राण (श्वासवायु) से इस (पृथ्वी) लोक का, अपान वायु से अन्तरिक्ष और व्यान वायु से उस (द्यु) लोक का विस्तार किया। इस लोक से उन्होंने अग्नि की सृष्टि की, अन्तरिक्ष लोक से वायु की और द्युलोक से आदित्य की सृष्टि की, इसके बाद उन्होंने अग्नि से ऋचाओं की, वायु से यजुष् की

[४९] शां. ब्रा. - ३.६

[५०] तत्रैव - १६.७

[५१] वैदिक साहित्य तथा संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, द्वितीय संस्करण १९५८ (पृ. ६०७)

[५२] शां. ब्रा. - ८.९

[५३] सोमं सन्तं विष्णुमिति यजति...(तत्रैव - ८.२)

[५४] प्रजापतिः प्रजातिकामस्तपोऽतप्यत तस्मात्तप्तात्यञ्चाजायन्ताग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा उषाः ... (तत्रैव - ६.१)

और आदित्य से सामन् की सृष्टि की।[५५] प्रजापति ने अग्न्याधान से रेतस्, देवों, मनुष्यों और असुरों की तथा दर्श और पौर्णमास (हवि) से इन्द्र की सृष्टि की। प्रजापति ने ही यज्ञ की भी सृष्टि की, इससे देवताओं ने यजन करके सभी कामनाओं को प्राप्त किया।[५६] शांखायन ब्राह्मण में प्रजापति की संख्या सप्तदश बतायी गयी है तथा जो प्रजापति के अनुकूल कार्य हैं उनको ऋद्धिकारी कहा गया हैं।[५७] कौषीतकि के अनुसार – प्रातः अनुवाक प्रजापति है तथा प्रजापति अपरिमित हैं।[५८] प्रजापति पुरुष है और वह सभी छन्दोंसे परे कहे गये है।[५९] स्वरसाम प्रजापति है।[६०] वसिष्ट प्रजापति है।[६१] विश्वजित् प्रजापति यज्ञ है। विश्वजित् प्रजापति है।[६२] मन प्रजापति है। प्रजापति यज्ञ है।[६३] प्रजापति वे हैं जिनका नाम अनिरुक्त है।[६४] इस प्रकार शांखायन ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति की महिमा बहुत ही महीयान् है।

सविता को प्रसव का स्वामी[६५] तथा हिरण्यपाणि[६६] (स्वर्ण के हाथ

---

[५५] प्रजापतिस्तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा प्राणादेवेमं लोकं......वायोर्यजूष्यादित्यात्सामानि... (तत्रैव - ६.१०)

[५६] प्रजापतिर्हयज्ञंससृजे तेन ह सृष्टेन देवा ईजिरे... (तत्रैव - २८.१)

[५७] सप्तदशो वै प्रजापतिरेव तद्वा आर्धुकं कर्म यत्प्रजापतिसंमितं...(तत्रैव - ८.२, १०.६, १६.४)

[५८] तदु ह स्माऽऽह कौषितकिः प्रजापतिर्वै प्रातरनुवाकोऽपरिमित उ वै प्रजापतिः ...(तत्रैव - ११.७)

[५९] स वै पुरुषः प्रजापतिः पूर्वोऽस्य सर्वस्यातिच्छन्दो वै प्रजापतिः ... (तत्रैव - २३.४)

[६०] प्रजापतिः स्वरसामान ... (तत्रैव - २४.४, २४.५, २४.९)

[६१] प्रजापतिर्वै वसिष्ठः ... (तत्रैव - २५.२, २६.१५)

[६२] प्रजापतिर्विश्वजित्......यज्ञ उ वै प्रजापतिर्विश्वजित्...(तत्रैव - २५.११)

[६३] प्रजापतिर्वै मनो यज्ञ उ वै प्रजापतिः ...(तत्रैव - २६.३)

[६४] अनिरुक्त उ वै प्रजापतिः ... (तत्रैव - २९.७)

[६५] सविता वै प्रसवानामीशे...(तत्रैव - ५.२)

वाले) कहा गया हैं। । वाक् ही सरस्वती है।[६७] वाक् एक ही है।[६८] वाणी दीक्षा है।[६९] द्यावा-पृथ्वी आधार (प्रतिष्ठा) है।[७०] द्यावा तथा पृथ्वी गो एवं आयुष हैं।[७१] मरुत् जल में रहते हैं।[७२] मरुतों के लिये दूध का भोजन है। मरुत् इन्द्र के सहायक या अनुगामी हैं।[७३] मरुद्गण स्वर्गलोक में जा रहे यजमान के स्वामि हैं।[७४] मरुद् रुद्र के गण तथा रुद्र मरुतों के पिता हैं। जब मरुतों ने इन्द्र को शुद्ध किया तब इन्द्र ने उन्हें यज्ञ में भाग दिया।[७५] पूषा दन्तहीन तथा करम्भक (तरल पदार्थ भोजी) है।[७६] पर्जन्य के वर्षणकारी होने के सम्बन्ध में भी शां.ब्रा. के २८वें अध्याय में उल्लेख प्राप्त होता है।[७७]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शांखायन ब्राह्मण में देवताओं के स्वरूप के विषय में विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

---

[६६] यत्र ह तद्देवा यज्ञमतन्वत तत्सवित्रे प्राशित्रं .... प्रतिदधुस्तस्माद्हिरण्यपाणिरितिस्तुतः... (तत्रैव - ६.१३)

[६७] वाग्वै सरस्वती... (तत्रैव - ५.२, १२.८), ...वागेव सरस्वती...(तत्रैव - १४.४)

[६८] वागेवाऽऽज्यं सा वा एकैव भवति... (तत्रैव - २८.९)

[६९] वाग्दीक्षा वाचो हि दीक्षते... (तत्रैव - ७.१)

[७०] अथ यद् द्यावापृथिवी य एककपालः प्रतिष्ठे वै द्यावापृथिवी प्रतिष्ठित्या... (तत्रैव - ५.२)

[७१] द्यावापृथिवी वै गोआयुषी...(तत्रैव - २६.२)

[७२] तत्रैव - ५.४

[७३] तत्रैव -५.५

[७४] मरुतो ह वै देवविशोऽन्तरिक्षभाजना ईश्वरा यजमानस्य... (तत्रैव - ७.८)

[७५] तत्रैव - २८.३

[७६] अदन्तकः पूषा करम्भभाग इति... (तत्रैव - ६.१३)

[७७] तत्रैव - २८.२

वेदेषु रासायनिक.सन्दर्भाः

आचार्य वाचस्पतिः मिश्र

रसायनक्षेत्रं सर्व समावेशि वर्तते। मानवजीवनस्य जन्मतः मरणपयर्न्तं प्रत्येकं पक्षं प्रत्यक्षतया परोक्षतया वा रसायनेन सम्बद्धम्। वैदिक.सम्प्रदायानुसारेण वेदज्ञानं सृष्टेः आदौ उत्पन्नेभ्यः ऋषिभ्यः उद्भूतम्। पूर्वकाले यद् प्रकारमाधृत्य त्रिषु भागेषु विभक्तम् 'वेदत्रयी' इति प्रसिद्धम् आसीत् तद् अतद्यनकाले ग्रन्थचतुष्टयम् ऋग्.साम.यजुष्.अथर्वत्वेन सुनिर्दिष्टम् समाजे सुविदितम्। पाश्चात्यैः प्राज्ञैः तथाकथितवैज्ञानिकानाम् पूर्वाग्रहयुक्ताम् पक्षपातपूर्णाम् मान्यतामनुसृत्य वेदानां रचनाकालं ईसातः पूर्वं सार्धद्विसहस्रवर्षेभ्यः आरभ्य पञ्चसहस्रवर्षपर्यन्तं निर्धारितं क्रियते। रेडियोधर्मिणां पदार्थानां अन्वेषणाधारेण वैज्ञानिकाः एतदद्य स्वीकर्तुं विवशात्मानः सन्ति यत् सृष्टेः उत्पत्तेः अद्य द्वि-अर्वुदवर्षाणि व्यतीतानि। पुनश्च पञ्चसहस्रवर्षपूर्वम् मानवस्य जीवनं ज्ञानेन विना कथं संचाल्यमानमासीत्? एतस्य ते तर्कसम्मतं बुद्धिगम्यमुत्तरं दातुं नैव शक्नुवन्ति।

यदा काचित् निर्माणी कस्यचिद् यन्त्रस्य नवनिर्माणं करोति तदा तेन सह एकां निर्देशिकामपि सलंग्नीकरोति। यस्यां तस्य यन्त्रस्य संञ्चालनविधिः प्रयोगकरणसमये वर्तितव्यानां सावधानबिन्दूनां चर्चाः अथ च अव्यवस्थिते

यन्त्रे सति पुनस्तस्य सुधारणस्य सूचनाद्याः अंकिताः भवन्ति। इत्थमेव विश्वनिर्मात्र्या अदृश्यशक्त्याऽपि विश्वनिर्माणेन सहैव वेदरूपा निर्देशिका मानवाय प्रदत्ता, यया अस्याः सृष्टेः समुचितं सञ्चालनं प्रवर्तितं स्यात्। वेदाः सर्वासां सत्यविद्यानाम् आदिमूलानि पुस्तकानि। एतदर्थं राधाकमल मुकर्जी. मजूमदार. पुसालकर. ईश्वरीप्रसाद. लोकमान्यबालगंगाधरतिलक मैक्समूलर. कीथ. मैक्डोनाल्ड. आदिभिः लिखिताः ग्रन्थाः टीकाश्च अवलोकनीयाः। पश्चशताब्द्यां विद्यमानयोः आचार्यप्रफुल्लचन्दरायस्य प्रयागविश्वविद्यालयस्य रसायनविभागीयाध्यक्षस्य डॉ. सत्यप्रकाशस्य च ग्रन्थाः सम्यग् द्रष्ट्व्याः सन्ति। अद्युना वैदिकवाङ्मये उपब्धानां रसायनतत्त्वानां सिंहावलोकनम् कुर्मः। **सुरासोमश्च**-आधुनिक रसायनशास्त्रानुसारेण सुरा सोमः च रसायनसम्बद्धौ एतौ। यावत् सोमस्य प्रसङ्गः जनाः बहुधा एनं सुरासदृशमेव मन्यन्ते। किन्तु वास्तविकता एतद्भिन्ना अस्ति। तत्र वेदेषु सोमसम्बद्धाः प्रशंसनतत्पराः ऋचः उपलभ्यन्ते।[१] परम् सुरायाः निन्दनम् तु सर्वत्र कृतम्। सुरायाः[२] निर्माणविधिरपि तत्र वैदिकवाङ्मये चर्चिता।[३]

तत्सदृशाः विधयः अद्यत्वेऽपि ग्रामीण.वनाञ्चल.व्यवसायिकक्षेत्रेषु प्रयुज्यन्ते। अनेन सुस्पष्टमेव प्राचीने कालेऽपि किण्वनम् आसवनम् संघननम् इत्यादयः रासायनिकविधयः[४] प्रचलिताः आसन्। पश्चकालेषु सुरायाः निर्माणविधिराधिक्येन प्रचलिता।[५] किण्वनस्य क्रियाद्वारा

[१] ऋग्वेदः ८/६/४९, यजुर्वेदः १९/७, अथर्ववेदः ६/७०/१, यजुर्वेदः १९/१, १९/९

[२] विज्ञान, कक्षा १० की पाठ्यपुस्तक, ऐनसीईआरटी।

[३] यजुर्वेदः १९/१४

[४] विज्ञान कक्षा ९ की पाठ्यपुस्तक, ऐनसीईआरटी।

[५] अथर्ववेदः १५/२/९/१-२

उष्णदुग्धेन दधिनिर्माणस्य ज्ञानं लोकजीवनेऽपि प्रयुज्यमानम् आसीत्।[६]

डॉ. सत्यप्रकाशानुसारेण सोमः ''एफेड्रा डिस्टेच्या'' नामकः वनस्पतिः वर्तते यः अद्यत्वेऽपि दक्षिण.अमेरिकादेशे कुत्रचित् उपलब्धोऽस्ति। सोमस्य विषये अन्यद् संशोधनम् अपेक्षितं वर्त्तते। एतत् कथनमपि अनुचितं नास्ति यद् बहुत्र सोमविषयकाः अर्थाः तान्त्रिकाः अथवा आध्यामिकताधृताः अपि क्रियन्ते।[७]

वैदिकवाङ्मये धातवः- वैदिककाले स्वर्णः, रजतम्, वंगः, ताम्रम्, लौहम्, त्रपुः इत्यादय धातवः ज्ञाताः आसन्। स्वर्णरजतयोस्तु बाहुल्यमेवासीत् तस्मिन् काले। स्वर्णेन गवां शृङ्गागाणि रजतेन च गोखुराश्च मण्ड्यन्ते स्म।[८] आचार्य प्रफुल्लचन्द्ररायस्य एषः विचारः यत् वैदिके काले लौहम् ज्ञातम् नासीत्, उचितः नैव प्रतीयते। यतः त्वष्टु हस्ते आयसः वज्रः अस्ति।[९] नापितानां हस्तेषु क्षुरम् अस्ति।[१०] इत्यादिवर्णनेषु एतानि नैव हिरण्यमयानि अस्त्रशस्त्राणि स्युः। डॉ. सत्यप्रकाशः डॉ. रांगेयराघवश्च सहमतौ एतेन।

यजुर्वेदे कानिचिद् व्यवसायिकनामानि सन्ति। यथा-निसरः, अयस्तापः, हिरण्यकारः इति एतानि नामानि स्पष्टीकुर्वन्ति यत् तदानीं धातुकर्माणि पर्याप्तमात्रायां भवन्ति स्म। धातुग्लायनकर्त्तुः यदि नाम अस्ति

---

[६] विज्ञान कक्षा ११ की पाठ्यपुस्तक, ऐनसीईआरटी। यजुर्वेदः १९/२३, यजुर्वेदः १९/११, अथर्ववेदः ६/७/७२/३

[७] जगदीश प्रसाद एवं उत्कंठा गुगलानी, हठयोग, आयुर्वेद एवं सूफियों का सोमरस, अनुसन्धानम्, २०११, चौधरीचरणसिंहविश्वविद्यालयसंस्कृत- अध्यापकशोधपत्रिका, मेरठ।

[८] ऋग्वेदः १/१६३/९, यजुर्वेदः ३४/५०, ५१

[९] ऋग्वेदः ८/१/४/१६

[१०] अथर्ववेदः ११/२/७

तर्हि एतस्य कार्यस्य सम्पादनाय आवश्यकानि उपकरणानि तापोत्पादकम् ईन्धनम् च अनिवार्यतया विकसितानि स्युः। अथर्ववेदे सीसकस्य उल्लेखोऽस्ति। त्रपुताम्रयोश्च विषये अथर्ववेदे प्रतीकात्मकतया प्रयोगः वरीवर्त्ति।

वेदेषु न केवलं रसायनशास्त्रस्य अपितु प्राणिविज्ञानस्य वनस्पतिविज्ञानस्य भौमिक्याः भौतिक्याः यान्त्रिक्याः विद्यानां गणितस्य खगोलविज्ञानस्य अथ च एवंप्रकारकाणाम् बहुशः अन्यशास्त्राणां सम्बद्धाः प्रचुरा ज्ञानसामग्री प्रपूर्णा चकास्ति।[११]

कष्टम्-विज्ञानस्य यस्य कस्यापि शाखायाः विश्वस्तरीयेषु ऐतिह्यसम्बद्धेषु ग्रन्थेषु अथवा प्रकरेणेषु यूनान, अरब, चीन, मिस्र इत्यादि देशानां ईसातः पूर्ववर्त्तिनाम् अलबरुनी इत्यदिनां मनीषिणां नामानि वयं प्राप्नुमः परन्तु खेदेन कथितुं प्रसज्यते यत् ईसातः सहस्रवर्षाणि पूर्वस्थितानां भारतीयवैज्ञानिकानां योगदानम् सर्वथैव एतेषु क्षेत्रेषु विस्मार्यते।

कृतज्ञताप्रकाशः- लेखस्यास्यकृते मेरठमहाविद्यालयस्य रसायनविभागात् सेवानिवृत्तप्राध्यापकान् डॉ. जगदीशप्रसादवर्यान् बहुशः धन्यं वदामि।

[११] वि.रा. शास्त्री, वसु रिसर्च इन्स्टीट्यूट (कोलकाता) सिम्पोजियम वोल्यूम, बुलेटिन, नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ साइंसिज ऑफ इण्डिया, २१, पृष्ठ ९४-१०४, १९६३
डॉ. विजयेन्द्र शास्त्री, नई दुनिया (दैनिक), १८ जनवरी, १९७१, पृष्ठ-५

पातञ्जलमहाभाष्ये धातुस्वरूपविमर्शः वेदार्थप्रक्रियायां तद्विनियोगश्च

डा० यशस्वी[१]

वेदार्थज्ञापनाय प्रवृत्तेषु वेदाङ्गेषु व्याकरणं प्रधानम्; अखण्डानां वेदमन्त्राणां पदरूपविभागेन, पदानाञ्च प्रकृतिप्रत्ययरूपविभागेन साक्षादर्थबोधकत्वात्। प्रकृतिप्रत्ययविभागरहितानाम् अखण्डपदानाम् अञ्जसा अर्थज्ञानाय तानि सर्वादौ बृहस्पतिशिष्येण इन्द्रेण व्यभज्यन्तेति तैत्तिरीयसंहितया प्रमाणितम्। तथाहि[२]- "**वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्॥ ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति। ...... तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्**" इति। सायणाचार्यो वचनमदः इत्थं व्याचख्यौ[३]?- "तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्" इति। एवञ्च अधिवाक्यं गौरित्येवमादिषु पदेषु इयं प्रकृतिः, अयं प्रत्ययः, असौ प्रकृत्यर्थः, असौ प्रत्ययार्थः इत्येवंरीत्या पदविच्छेदपुरस्सरं महान् शब्दराशिः अल्पीयसा यत्नेन उत्सर्गापवादपद्धत्या यत्रोपदिश्यते; तच्छास्त्रं व्याकरणम्। "**एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः**

---

[१] **सहाचार्यः, व्याकरणविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम् (मानितविश्वविद्यालयः), तिरुपतिः**

[२] तैत्तिरीयसंहिता - ६.४.७

[३] ऋग्भाष्यस्य उपोद्घाते।

स्वर्गे लोके कामधुग्भवति" इति वेदविषयकमहाभाष्यवचनानुगुणं सुखविशेषावाप्तये प्रथमं तावत् शब्दस्य व्याकरणप्रक्रियाज्ञानपुरस्सरं साधीयोऽर्थज्ञानं, ततो वैखर्या वाचा सुष्टु प्रयोगश्चेत्येतद्द्वयं सुतरामभीप्सितम्।

"सूत्रस्य सूत्रं यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत्"।[४]

" यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"।

इति वेदोपनिषद्वचनसरणिमनुसृत्य इदमिह सम्मधार्यम् - कस्मिन्नु खलु विज्ञाते सर्वशब्दानामर्था विज्ञायन्ते? कोऽसौ खल्वयमाधारः यं कृत्स्ना व्याकरणप्रक्रिया अधितिष्ठति? एवंदृशा जिज्ञास्यमाने सति ज्ञायते यत् सर्वेषां शब्दानाम्, अर्थस्य व्याकरणप्रक्रियायाश्च मूलस्थानं धातुरेवेति। तदुक्तम् "**उणादयो बहुलम्**" इति सूत्रभाष्ये"[५] - **'नाम च धातुजमाह निरुक्ते। नाम खल्वपि धातुजम्, एवमाहुरुक्ताः। व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। वैयाकरणानाञ्च शाकटायन आह धातुजं नामेति**।"

सुप्तिङन्तं पदम्[६]" इति सूत्रेण सुबन्तानां तिङन्तानाञ्च पदसंज्ञा विधीयते। तत्र नामाख्यातोपसर्गनिपातेषु चतुर्विधेषु पदजातेषु आख्यातानां (तिङन्तानाम्) धातुजत्वं स्पष्टमेव। प्रागुक्तभाष्यवचनात् नाम्नामपि (सुबन्तानाम्) धातुमूलकत्वं सिध्यति। उपसर्गाणां निपातेष्वन्तर्भावात् निपातानाञ्च सुबन्तेष्वन्तर्भावात् सर्वशब्दानां धातुमूलकत्वं फलितम्॥

निरुक्तकारः उपसर्गनिपातानाम् अर्थवत्त्वद्योतनाय तेषामपि व्युत्पत्तिं प्रादीदृशत्। एतेन प्राचीनव्याकरणेषु उपसर्गनिपातानामपि व्युत्पादकानि सूत्राण्यासन्नित्यनुमीयते। इतरथा प्रकृतिप्रत्ययविभागपुरस्सरमेव पदानाम् अर्थद्योतनाय प्रवृत्तस्य व्याकरणस्य उपसर्गनिपातानां विषये वैयर्थ्यं स्यात्। न च नैरुक्तानामिदं मतं वैयाकरणैर्नादर्तव्यमिति वाच्यम्, "**तदिदं विद्यास्थानं**

---

[४] अथर्ववेदः - १०.८.३७

[५] महाभाष्यम् - ३.३.१

[६] अष्टाध्यायी - १.४.१८

व्याकरणस्य च कार्त्स्न्यम्"[७] इति नैरुक्तवचनात् शास्त्रद्वयस्यापि परस्परान्वयद्योतनात्। तत्रैतावान् विशेषः - व्याकरणं शब्दं प्राधान्येन लक्ष्यीकृत्य प्रवर्तते निरुक्तं च अर्थम्। अपि च - इदं शाकटायनस्यैव मतम्, नान्येषां वैयाकरणानाम्, अतो नाभ्युपेयमिदमिति न वाच्यम्।

भाष्यकारोऽप्येतन्मतम् अङ्गीचकारेति हेतोः मतमदः भाष्ये उदाजहार। यदीदं मतं भाष्यकाराय नारोचिष्यत तर्हि तन्मतं भाष्ये नोदाहरिष्यत्। किञ्च अनुशाकटायनं वैयाकरणाः इत्युदाहरणस्य '**हीने**'[८] इति सूत्रवृत्तौ काशिकायामुपन्यासात् वैयाकरणेषु शाकटायनस्य सर्वातिशायित्वं द्योत्यते।

धातुलक्षणम्

निखिलशब्दार्थप्रक्रियायाः कारणीभूतस्य तस्य धातोर्लक्षणं भाष्ये इत्थमलक्ष्यत[९] - "क्रियावचनो **धातुः। का पुनः क्रिया? ईहा। का पुनरीहा? चेष्टा। का पुनश्चेष्टा?** व्यापारः इति। यया आनुपूर्व्या कर्तृकर्मार्थरहिता, एकत्वाद्यर्थविरहा, केवला क्रिया बोध्यते, सैवानुपूर्वी धातुः। यथा- एधँ इत्यानुपूर्व्या केवला वृद्धिरूपा क्रिया लक्ष्यते। भगवता पाणिनिना केवलक्रियाबोधिकाया ईदृश्या आनुपूर्व्याः "**भूवादयो धातवः**"[१०] इति सूत्रेण धातुसंज्ञा व्यधायि। सर्व इमे धातवः सूत्रकारेण धातुपाठाभिधे ग्रन्थे समगृह्यन्त।

धातूनामुपलक्षणमात्रत्वम्

"**तृन्**"[११] इति सूत्रभाष्ये वार्तिकमिदं पठ्यते 'नयतेः षुक् च' इति।

---

[७] निरुक्तम् - १.१५

[८] अष्टाध्यायी - १.४.८६

[९] महाभाष्यम् - १.३.१

[१०] अष्टाध्यायी - १.३.१

[११] तत्रैव - ३.२.१३५

इति रूपसाधनाय नीधातोः पुगागमः तृन्प्रत्ययश्च वक्तव्य इति तदर्थः। यतः '**धातोः**'[१२] इति सूत्राधिकारे विहिताः प्रत्यया धातोरेव प्रवर्तन्ते। धातुपाठे च नीष इत्येवं धातुर्न क्वाप्यपाठि सूत्रकृता। नी इति धातुस्तु पठितः। तस्माद् नेष्टा इति रूपसाधनाय घुगागमो विधीयते वार्तिकेन। भाष्यकारस्तु निष इति स्वतन्त्रं धातुमुपदिश्य वार्तिकमदः प्रत्याचख्यौ। धातुपाठे धातोरस्याभावे पुगागमविधायको वार्तिकारम्भ एव प्रमाणम्। तदुक्तम्[१३] - "**न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? धात्वन्यत्वात्। धात्वन्तरं नेषतिः। कथं ज्ञायते? नेषतु नेष्टादिति हि प्रयोगदर्शनात्। इन्द्रो वस्तेन नेषतु, गावो नेष्टादिति**। ईदृशधातूनामूहनेन नेषतु, नेष्टात् इत्येवमादयो वैदिकप्रयोगा अञ्जसा शक्यन्ते व्याकर्तुम्। किञ्चैषां निदर्शनत्वस्वीकारादेव "**प्रत्ययश्च दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या**"[१४] इत्येतत् "**उणादयो बहुलम्**" इति सूत्रभाष्यं सङ्गच्छते। अन्यथा धातुपाठस्थद्विसहस्रकल्पैरेव धातुभिः भूयिष्ठाश्शब्दाः कथङ्कार शक्यन्ते व्युत्पादयितुम्। सूत्रकारः स्वयमेव धातुपाठस्थधातूनां निदर्शनत्वम् इत्येके इत्यन्ये इत्येवंरीत्या धातुपाठे नैकत्र समकेतयत्।

धातूनामनेकार्थवत्त्वम्

धातुपाठे येऽर्था निरदिश्यन्त धातूनाम्, तेऽप्युपलक्षणमात्रमेव। इतरथा धातुपाठे अर्थविशेषे धातूनां नियतत्वात् तत्तत्प्रकरणानुसारम् इतरार्थस्य ग्रहणं न सम्भाव्येत। अत एव अग्नि इतो वृष्टिमी इत्यादिमन्त्रे ईट्टे इत्यत्र विद्यमानस्य ईडधातोः धातुपाठे निर्दिष्टात् स्तुतिचोदनायाञ्चारूपार्थात् भिन्नः प्रेरणारूपार्थः स्वीक्रियते। तस्मादेवास्य मन्त्रस्य साध्वर्थः फलति। तदुक्तं भाष्ये[१५] - "**न चेदं नास्ति बह्वर्था अपि धातवो भवन्तीति। तद्यथा**

---

[१२] तत्रैव - ३.१.९१

[१३] महाभाष्यम् - ३.२.१३५

[१४] तत्रैव - ३.३.१

[१५] तत्रैव - १.३.१

वपिः प्रकिरणे दृष्टः, छेदने चापि वर्तते - केशश्मश्रु वपतीति। ईडिः स्तुतिचोदनायाञ्चासु दृष्टः, प्रेरणे चापि वर्तते - अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे, मरुतोऽमुतश्च्यावयन्तीति। करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टो, निर्मलीकरणे चापि वर्तते- पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते। निक्षेपणे चापि वर्तते - कटे कुरु, घटे कुरु, अश्मानमितः कुरु - स्थापयेति गम्यते" इति। किञ्च परिपूर्वकस्य भूधातोः लोके अवज्ञानार्थकतया प्रसिद्धौ सत्यामपि पुनः "**परौ भुवोऽवज्ञाने**"[१६] इत्यत्र इतरार्थव्यावर्तनाय अवज्ञानार्थकस्य भूधातोर्निर्देशात् सूत्रकारस्यापि मते धातूनामनेकार्थवत्त्वं सिध्यतितराम्।

वैदिकपदानां धातुमूलकत्वम्

"**उणादयो बहुलम्**"[१७] इति सूत्रभाष्ये उणादिप्रत्ययानां प्रयोजनं प्रतिपादयता भाष्यकृता अभ्यधायि[१८] - "**नैगमाश्च रूढिभवाश्चौणादिकाः सुसाधवः कथं स्युः**" इति। वैदिकपदानां रूढपदानाञ्च साधुत्वाय उणादीनां पाठ आवश्यक इति तदर्थः। अत्र भाष्यकारः रूढपदेभ्यः वैदिकपदानां पार्थक्यं प्रदर्य तेषां यौगिकत्वं प्रत्यपीपदत्। यदि वैदिकपदान्यपि रूढानि स्युस्तर्हि तेषां पार्थक्येन ग्रहणं व्यर्थं स्यात् । एतेन ज्ञायते यद्भाष्यकृन्मते वैदिकपदानि यौगिकानि तन्मूलतया धातुजानि चेति।

अयमेव विषयः प्रकारान्तरेण महाभाष्ये अन्यत्राप्युक्त:[१९] "**त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः - जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः**"। अत्र भाष्यकारः कण्ठरवेण अन्वाख्येयशब्दानां रूढत्वं निरस्यति। इदानीं प्रसङ्गवशात् यौगिकरूढयोगरूढपदविषये ईषद्विचार्यते।

व्याकरणनये योगो नाम शास्त्रकल्पितावयवार्थनिरूपिता शक्तिः।

---

[१६] अष्टाध्यायी - ३.३.५५

[१७] तत्रैव - ३.३.१

[१८] महाभाष्यम् - ३.३.१

[१९] तत्रैव, द्वितीयाह्निकम्, ऋलुक् इति सूत्रभाष्यम्

तया शक्त्या युक्तं पदं यौगिकम्। शक्तिश्च पदपदार्थयोर्नित्यसम्बन्धः। तद्यथा याजकः इत्यत्र शास्त्रकल्पितः यजधातुरेकोऽवयवः, ण्वुल्स्थानिकः अकादेशश्च अन्योऽवयवः। अत्र यजधातुना यागक्रिया अका च तत्कर्ता गम्यते। एवञ्चानयोः शास्त्रकल्पितावयवयोर्योगात् यागकर्तृरूपा या शक्तिर्निरूप्यते, तथा युक्तत्वात् याजकपदं यौगिकम्। रूढिर्नाम प्रकृतिप्रत्ययविभागरूपं शास्त्रकल्पितार्थ निरपेक्ष्य एकस्मिन्नेव विशिष्टेऽर्थे पदविशेषस्य प्रयोगः। यथा गौः, अश्वः, पुरुषः इत्यादयः।

यत्र पदेषु योगशक्तेः रूढिशक्तेश्च समन्वयो भवति, तानि योगरूढानि। यथा पङ्कजपदम् अवयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृरूपमर्थ बोधयति, समुदायशक्त्या च पद्मरूपार्थ बोधयति। न च यौगिकार्थपक्षे वैदिकपदानां बह्वर्थकत्वात् तेषामर्थविशेषबोधकत्वं नास्तीति वाच्यम् ; नानार्थस्थले अर्थनियामकेषु प्रकरणस्य प्राधान्यात् तत्तत्प्रकरणवशात् योगरूढत्वमापन्नानां तत्तत्पदानाम् अर्थविशेषबोधकत्वं विशेषणविशेष्यभावश्च प्रसिध्यति। तदुक्तं निरुक्ते[20] - **'न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव** इति।

वेदमन्त्राणां रूढार्थाङ्गीकारे ये दोषाः, यौगिकार्थाभ्युपगमे ये च लाभा ; तेऽत्र स्थालीपुलाकन्यायेनोदाह्रियन्ते।

१. "**अश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः**"[21] इति अथर्वमन्त्रे विद्यमानस्य वाजिपदस्य यदि रूढार्थः स्वीक्रियते तर्हि - अश्वाः अश्वा भवन्तु, गावः अश्वाः भवन्तु इत्येवं दुष्टोऽर्थः फलति। यदि तु महाभाष्यसम्मतः यौगिकार्थः स्वीक्रियते तर्हि - अश्वा बलयुक्ता भवथ, गावः प्रभूतक्षीरा भवथ "इति साधिष्ठोऽर्थः फलति। यतः वजधातुर्गत्यर्थकः धातुपाठे पठ्यते,

[20] निरुक्तम् - १३.१२

[21] अथर्ववेदः - १.४.४

वाजशब्दश्च यास्कनिघण्टौ अन्ननामसु। तस्मात् वाजिपदस्य यथाक्रमं बलरूपार्थः क्षीरान्नरूपार्थश्च गृह्यते।

२. मुग्धा देवा उत शुना यजन्त उत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥[२२]

प्रकृतमन्त्रभाष्येण सायणाचार्यो यज्ञे पशुहिंसां प्रत्यपादयत्। तद्यथा- "(मुग्धा) कार्याकार्यविवेकरहिता (देवाः) यजमानाः .....शुनापि अयजन्त। यज्ञो हि पशुसाधनकः। (गोः) गोरूपपशोरङ्गैः अवयवैरपि .....अवध्यानां परमावधिः। (पुरुधा) बहुधा अयजन्त। ....सर्वदा शुनकगवादिरूपैः पशुभिः यज्ञं कुर्वन्तीत्यर्थः" इति।

सायणभाष्यमेवोपजीव्य पाश्चात्त्यै रचितानां वेदभाष्याणां तु का कथा? एवंविधमन्त्रार्थान् पुरस्कृत्यैव ग्रिफिथमैक्डानलादयः अस्मत्पूर्वजान् प्राचीनानार्यान् असभ्यान् गोमांसभक्षकांश्च अघोषयन्। शतपथकारः याज्ञवल्क्यस्तु "**जीवमेव देवानां हविः अमृतममृतानाम्**" इत्युक्त्वा यज्ञे पशुहिंसां निरस्तवान्। निरुक्तकारो यास्कमुनिरपि अध्वरपदं व्याचक्षाण आह[२३]-- "**अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरतिर्हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः**" इति। ऐतिह्यप्रमाणेन महाभारतेनाप्युक्तम्-[२४]

सुरां मत्स्यान् मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम्।
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्॥ इति।

प्रागुक्तमन्त्रार्थे यदि महाभाष्यकृत्सम्मतः धातुमूलको यौगिकार्थः आश्रीयते, तदा ब्रह्मविद्याविषयः प्रकाशते। मन्त्रस्यास्य प्रजापतिर्देवता। अत्र प्रकरणवशात् यज्ञपदेन सङ्गतिकरणरूपोऽर्थः गृह्यते, न तु द्रव्ययज्ञात्मको

---

[२२] तत्रैव - ७.५.५

[२३] निरुक्तम् - १.८

[२४] महाभारतम्, शान्तिपर्व - २६५\९-१०

रूढार्थः। श्वपदस्यापि "**टुओश्वि गतिवृद्ध्योः**"[२५] इति धात्वर्थमूलकतया "**श्वयति गच्छति वर्द्धते असौ श्वा**"[२६] इति यौगिकार्थः स्वीक्रियते। गोपदस्यापि यौगिकार्थवशात् **गच्छति जानाति यया सा गौः**[२७] इत्यर्थः। प्रकृते एतच्छब्दत्रयं प्रकरणवशात् योगरूढ्या यथासङ्ख्यं संगतिज्ञान-वेदवाग्रूपमर्थं बोधयति। इदानीं मन्त्रार्थं इत्थं सङ्गच्छते - परमात्मनः स्वरूपावधिमजानन्तः विद्वांसः वेदज्ञानेन विज्ञानं सम्प्राप्य परमात्मस्वरूपेण सङ्गताः भवन्ति।

३. "**तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया**"[२८] इति ऋङ्मन्त्रानुसारं परमात्मज्ञानस्य नित्यत्वात्। अपरिवर्तनीयत्वाच्च वेदे अनित्यः मानवेतिहासः न सम्भवति। तदुक्तं शतपथे[२९] - "**तस्मादाहुर्नैतदस्ति यदैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यते इतिहासे त्वत्**" इति॥

निरुक्तकारोऽपि "**तत्को वृत्रः? "मेघ इति नैरुक्ता**"[३०], **ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता**"[३१] इत्यादिरीत्या वेदे ऐतिह्याभावं प्रादीदृशत्। एवं स्थिते मनुष्यवाचिनामिव प्रतीयमानानां वैदिकनामपदानां धातुमूलकतया यौगिकार्थाभ्युपगमादेव वेदानाम् अनित्यत्वदोषः शक्यते वारयितुम्। तद्यथा[३२] - '**इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्०**" इत्यादिमन्त्राणां वेदनित्यत्वविरुद्धम् ऐतिह्यात्मकम् इन्द्रवृत्रयुद्धमयम् अर्थं वर्णयन्ति

---

[२५] धातुपाठः, भ्वादिगणः - १०.१०

[२६] दयानन्दीयम् उणादिकोषव्याख्यानम् -२.२९

[२७] तत्रैव - २.६८

[२८] ऋग्वेदः - ८.७५.६

[२९] शतपथब्राह्मणम् - ११.१.६.९

[३०] निरुक्तम् - १०.१०

[३१] तत्रैव - १०.१०

[३२] ऋग्वेदः - १.३२.१

मध्यकालिका वेदभाष्यकाराः तदनुयायिन आधुनिकाश्च। परन्त्वत्र इन्द्र - वृत्र-अहि-वज्र-पर्वतादीनां पदानां रूढार्थं परित्यज्य यदि शास्त्रसम्मतः यौगिकार्थः आश्रीयते, तदा वेदनित्यत्वसिद्धान्तस्य रक्षा, अन्तरिक्षविज्ञानस्य प्रकाशश्च जायते। '**इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति इन्द्रः**[३३] **वर्तते सदैवासौ वृत्रः**[३४] **यदवृणोत् तत्रस्य वृत्रत्वम्, यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्, यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्,**[३५] **आहन्तीति अहिः**[३६]**, 'वजति प्राप्नोति प्राप्यते वा स वज्रः**[३७]**, पर्वति पूर्णो भवतीति पर्वतः**[३८]**, इत्यादिरीत्यैषां यौगिकार्थे सिद्धे न तु पृथक्केन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या**"[३९] ॥ इति। वेदार्थप्रक्रियासिद्धान्तानुसारं प्रकरणसामर्थ्यात् पूर्वोक्ताश्शब्दाः योगरूढ्या यथाक्रमं सूर्य-मेघ-मेघ-रश्मि-मेघरूपान् अर्थान् बोधयन्ति। एवञ्च यौगिकवादस्याश्रयणेन मन्त्राणां आधिदैविकार्थपक्षे योऽर्थः फलति, सः दयानन्दभगवत्पादानां भाष्यमुखेन वर्यते।[४०]

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः॥

"(इन्द्रः सूर्यः (वज्रण) विद्युत्किरणाख्येन (महताव०) तीक्ष्णतरेण (वृत्रम्) मेघम् (वृत्रतरम्) अत्यन्तबलवन्तम् (व्यंसम्) छिन्नस्कन्धं छेदितघनजालं यथा स्यात् तथा (अहन्) हतवान्। स (अहिः) मेघः

---

[३३] दयानन्दीयम् उणादिकोषव्याख्यानम् -२.२९

[३४] तत्रैव -२.१३

[३५] निरुक्तम् -२.१६

[३६] दयानन्दीयम् उणादिकोषव्याख्यानम् - ४.१३९

[३७] तत्रैव - २.२९

[३८] तत्रैव - ३.११०

[३९] निरुक्तम् - १३.१२

[४०] ऋग्वेदः - १.३२.५

(कुलिशेन) वज्रेण (विवृक्णा) छिन्नानि स्कन्धांसीव (पृथिव्या उपपृक) यथा कस्यचिन्मनुष्यादेरसिना छिन्नं सद् अङ्गं पृथिव्यां पतति, तथैव स मेधोऽपि (अशयत)"।

वैदिकनामपदानां रूढार्थनिरासाय, "**अनन्ता वै वेदाः**"[४१] इति वेदानाम् अनन्तविद्यानिदर्शनायैव च ऋषयः रूढवदाभासमानान् नैगमशब्दान् यौगिकवादमुखेन व्याचख्युः। तद्यथा बृहदारण्यके[४२] - '**सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः**"। ऐतरेयारण्यकेऽप्युक्तम्[४३] - "स यत्प्राणो गृत्सोऽपानो मदः। तस्मात् गृत्समद इत्याचक्षते ....। तद् यस्येदं विश्वं मित्रमासीत् तदिदं किञ्च तस्मात् विश्वामित्रः ......। तं यद्देवा अब्रुवन्नयं नः सर्वेषां वाम इति तस्मात् वामदेवः........"। शतपथब्राह्मणेऽप्युक्तम्[४४] - '**प्राणो वै वसिष्ठऋषिः**" इति। वसिष्ठो नाम वासयितृतमः। वसधातोः अतिशायनार्थे इष्ठनि तद् रूपम्॥

नैगमपदानां धातुजत्वं तन्मूलकतया तेषां यौगिकत्वं च स्वीयदिव्यदृष्ट्या साक्षात्कृत्यैव ऋषिदयानन्दः वेदभाष्ये तत्तत्पदानामन्वाख्यानमकार्षीत्। तद्यथा- "**इलीबिशस्य -- इलायाः पृथिव्याः बिले गर्ते शेते तस्य**"[४५] "**नार्मरः = नॄन् मारयति यः स वायुः, तस्यायं सम्बन्धी नार्मरः।**[४६] "**कुयवं=कौ पृथिव्यां यवा यस्मात्तं मेधम्॥**[४७] इति। ये खलु ऐतिहासिकाः वैदिकनामपदानां रूढत्वमभ्युपयन्ति, तेषां मते

---

[४१] तैत्तिरीयब्राह्मणम् - ३.१०.११.४

[४२] बृहदारण्यकोपनिषद् - २.२.४

[४३] ऐतरेयारण्यकम् - २.२.१.२

[४४] शतपथब्राह्मणम् - ८.१.१.६

[४५] ऋग्वेदः - १.३३.१३

[४६] ऋग्वेदः - २.१३.८

[४७] तत्रैव -१.१०.३.८

अङ्गिरस्तमः, कण्वतमः इत्यादितमबन्तानां वैदिकप्रयोगाणां रूढार्थः कथं वा सिद्ध्येत्? यतः लोके देवदत्ततरः, देवदत्ततमः इत्येवंरूपेण प्रयोगाः न क्वापि लक्ष्यन्ते। यश्च सर्वेषां वेदमन्त्राणाम् आधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिकभेदेन त्रिविधोऽर्थः सर्वैर्वेदाचार्यैरङ्गीकृतः, सोऽपि धातुमूलकयौगिकवादेनैव सिध्यति। न केवलं त्रिविधोऽर्थः अपितु वेदानां सर्वसत्यविद्यामयत्वसिद्धान्तोऽपि यौगिकवादेनैव फलति। यो हि पवित्रो वेदार्थ अश्लीलार्थेन मध्यकालिकैर्महीधर- प्रभृतिभिर्वेदभाष्यकारैर्दूषितः, तस्याप्युद्धारः यौगिकवादरूपेणास्त्रेणैव सम्भवः। धन्योऽस्ति स ऋषिः, यः स्वीयेन दिव्यचक्षुषा महाभाष्याद्यार्षग्रन्थेषु प्रतिपादितानि वेदार्थप्रक्रियायाः सूक्ष्मरहस्यानि साक्षात्कृत्य यौगिकवादप्रभृतिभिरमोघास्त्रैः लोकानां कृते वेदानां संरक्षणं चकार। यदीयदिव्यतपसा अश्लीलैतिह्यहिंसार्थादिविनिर्मुक्ताः वेदाः स्वीयं सर्वसत्यविद्यामयं विशुद्धं प्राचीनं गरिमाणं बिभ्रति। ये खलु वेदार्थप्रक्रियायाः सिद्धान्ताः सायणादिभिः केवलं ज्ञाताः, तेषां समन्वयः ऋषिदयान्दस्यैव वेदभाष्ये दरीदृश्यते। तदनुग्रहेणैवाद्य वेदाः कर्मकाण्डमयात् भीषणवनात् निर्गम्य साधारणजनस्य दैनन्दिनजीवने मार्तण्ड इव सर्वार्थावद्योतकतया विराजन्तेतमाम्।

ब्राह्मण ग्रन्थों का परिचय



गुरुकुल प्रभात आश्रम, (टीकरी) भोलाझाल, मेरठ